प्रकाशक :

मंत्री, श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर, राजस्थान)

द्वितीय सस्करण

जुलाई, १९७२.

मूल्य: दो रुपया पचास पैसे.

मुद्रक:

जैन आर्ट प्रेस

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित

रागड़ी मोहल्ला, बीकानेर.

* निवेदन *

आठवी-नौवी किरण मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन के २० बोलो तक के व्याख्यान प्रकाशित हो चुके हैं । प्रस्तुत किरण मे चौंतीस बोलो तक का विवेचन आया है ।

स्व० आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा असाधारण प्रतिभाशाली और गम्भीर विचारक सन्त महापुरुष थे । उन्होने अपने साधक जीवन मे जो अनुभूति की थी, वह उनको वाणी द्वारा व्यक्त हुई है । पूज्य श्री ने गहन तत्त्व-विचारो को सरल भाषा मे प्रकट किया है जो जनता के लिये बडे काम के हैं । आशा है पाठक एकाग्रभाव से इन्हे पढेंगे और मनन करेंगे ।

सम्यक्त्वपराक्रम के शेष भाग शीघ्र ही पाठको की सेवा मे उपस्थित कर रहे हैं ।

श्री हितेच्छु श्रावक-मडल, रतलाम और जैन ज्ञानोदय सोसाइटो, राजकोट का हम आभार मानते हैं, जिनके अनुग्रह से यह साहित्य प्रकाशित कर सके हैं ।

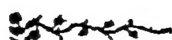
धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्री राजकु वर बाई मालू बीकानेर द्वारा श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य प्रकाशन के लिये प्रदत्त धनराशि से यह द्वितीय सस्करण का प्रकाशन हुआ है । सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिये बहिनश्री की अनन्यनिष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी ।

निवेदक

भीनासर (बीकानेर-राज)

चंपालाल बांठिया
मंत्री-श्री जवाहर साहित्य समिति

—: विषयसूची :—



इक्कीसवाँ बोल

परिवर्त्तना



प्रतिप्रच्छना का विचार करने के पश्चात् यहाँ परिवर्त्तना-परावर्त्तना (शास्त्र की आवृत्ति) करने के विषय मे विचार करना है । इस विषय मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है.—

मूलपाठ

प्रश्न—परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?

उत्तर—परियट्टणयाए णं वंजणाइं जणेइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सूत्र सिद्धान्त की आवृत्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—बार-बार सूत्र की आवृत्ति करने से विस्मृत व्यंजन (अक्षर) याद हो जाते हैं और उससे जीव को अक्षर-लब्धि और पदानुसारी लब्धि प्राप्त होती है ।

व्याख्यान

सूत्रों की वाचना लेने के पश्चात् प्रतिपृच्छना द्वारा सूत्र और अर्थ को असदिग्ध बना लिया जाता है। मूल सूत्र और अर्थ की बार-बार आवृत्ति न की जाये अर्थात् उन्हे पुन-पुनः फेरा न जाये तो सूत्र और अर्थ का विस्मरण हो जाता है। अतएव सूत्र और अर्थ की आवृत्ति करते रहना चाहिए। यहा भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि सूत्र-अर्थ की आवृत्ति करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है-- सूत्र और अर्थ की आवृत्ति करने से व्यजनो का लाभ होता है अर्थात् भूले हुए व्यजन याद आ जाते हैं और साथ ही साथ पदानुसारी लब्धि भी प्राप्त होती है।

जैसे दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार व्यजन भी भाव-पदार्थ को प्रकाशित करता है। व्यजन व्यजक अर्थात् प्रकाशक है। जैसे अधकार में रखी हुई वस्तु प्रकाश के अभाव मे दृष्टिगोचर नही होती उसी प्रकार आत्मा व्यजनो के ज्ञान के अभाव मे वस्तु का ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। व्यजनो का ज्ञान होने से आत्मा अनेक बाते जान सकता है। यह कहावत तो प्रचलित ही है कि पढे-गुने के चार आखें होती है, अर्थात् उसके दो चर्मचक्षु तो होते ही हैं, पर पढने लिखने से हृदय के नेत्र भी खुल जाते है। हिन्दू शास्त्रो मे महादेव को त्रिनेत्र अर्थात् तीन आंखो वाला बतलाया है। दो आखें तो सभी के होती हैं, मगर तीसरी आख जिसे प्राप्त होती है, वह महादेव बन जाता है। महादेव की तीन आंखो की कल्पना क्यो की गई

है, यह कहना कुछ कठिन है। मगर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि हृदय की आख बन्द रखने वाला मूर्ख कहलाता है और जो हृदय-चक्षु को खुला रखता है वह महादेव हो जाता है । हृदय की आख खुली होने पर भी अगर खराब काम किये जाएँ तो कैसा कहा जा सकता है कि इसकी हृदय की आख खुली है ? वह तो मानो देखते हुए भी अधा है । हाँ जो हृदय की आख खुली रखकर सत्कार्य मे प्रवृत्ति करता है वह शिव अर्थात् कल्याणकारी बन जाता है ।

भगवान् का कथन है कि सूत्र-सिद्धान्त की परावर्त्तना या आवत्ति करने से विस्मृत व्यजनो का स्मरण हो जाता है । यही नही वरन् व्यजन की लब्धि भी उत्पन्न होती है । अक्षरो के मिलने से शब्द बनता है और शब्दो के मेल से वाक्य बनता है । सूत्र-सिद्धान्त की आवृत्ति करते रहने से ऐसी पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होती है कि जिससे एक अक्षर बोलने से पूरा शब्द और एक शब्द बोलने से पूरा वाक्य तथा एक वाक्य बोलने से दूसरा वाक्य बन सकता है या जाना जा सकता है । अर्थात् एक पद सुनने से दूसरा पद बनाने की शक्ति आ जाती है । इस प्रकार की शक्ति पदानुसारिणी लब्धि से ही प्राप्त हो सकती है और यह लब्धि सूत्र-सिद्धान्त की आवृत्ति करते रहने से उत्पन्न होती है ।

आवृत्ति न करने से किस प्रकार की हानि होती है? इस विषय मे बचपन मे सुनी हुई एक कहावत याद आ जाती है । इस कहावत मे गुरु, शिष्य से पूछता है--

पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या वीसर जाय ।
तवा पर रोटी जले, कह चेला किण काय ॥

इन प्रश्नों के उत्तर मे चेला ने कहा - 'न फेरने से।' अर्थात्—पान फेरा न जाये तो वह सड जाता है, घोडा न फिराया जाये तो वह अडियल हो जाता है, विद्या न फेरी जाये अर्थात् विद्या की आवृत्ति न की जाये तो वह विस्मृत हो जाती है और यदि तवा पर डाली हुई रोटी न फिराई जाये तो वह जल जाती है । इस प्रकार सब वस्तुओ को फेरने की आवश्यकता रहती है । वास्तव मे यह अखिल ससार ही परिवर्तनशील है । ससार का परिवर्तन न हो तो संसार का अस्तित्व भी न रहे । बालक जन्म लेने के बाद यदि बालक ही बना रहे, उसकी उम्र मे तनिक भी परिवर्तन न हो तो जीवन की मर्यादा कैसे कायम रह सकती है ? अतएव प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन होते ही रहना चाहिए। सूत्र की आवृत्ति करते रहने से व्यंजनो की प्राप्ति होती है, विस्मृत व्यजन याद आ जाते हैं और पदानुसारिणी लब्धि उत्पन्न होने से, अक्षर से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्य से दूसरा वाक्य बनाने की शक्ति उत्पन्न होती है । एक वाक्य सुनकर दूसरा वाक्य और पद सुनकर दूसरा पद किस प्रकार बनाया जाता है, यह समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा—

एक बार राजा भोज ने एक आश्चर्यजनक घटना देखी । उसने देखा--एक ब्राह्मण के घर उसके पिता आदि का श्राद्ध होने के कारण, उसने श्राद्ध के योग्य भोजनसामग्री तैयार कराई । उस ब्राह्मण की ऐसी मान्यता थी कि पूर्वज

लोग कौवा बनकर आते हैं। इस विचार से वह कौवो को भोजन खिला रहा था। कौवे भोजन करने लगे। उस ब्राह्मण की स्त्री भोजन की सामग्री बचाना चाहती थी, अत कौवो को देखकर वह भय करने लगी। वह ब्राह्मण-पत्नी भोजन-सामग्री बचाने के लिए ही ऐसा भय प्रदर्शित करने लगी, मानो कौवो से डरती हो।

राजा ने उस ब्राह्मणी को इस प्रकार दिनदहाडे कौवो से भयभीत होते देखकर विचार किया--जो स्त्री दिन के समय कौवो से डरती है, देखना चाहिए उसका चरित्र कैसा है। इस प्रकार विचार कर राजा छिपे वेश मे उस स्त्री के चरित्र का पता लगने लगा।

ब्राह्मण जब कौवो को भोजन खिला रहा था तब उसकी पत्नी कहने लगी -'मुझ कौवो का डर लगता है' इनना कहकर वह कापने लगी। स्त्री को कापते देखकर उसके पति ने कहा -'अगर तुझे इतना डर लगता है तो मैं कौवो को खिलाना ही बन्द कर देता हूं।' इस तरह उस ब्राह्मणी की मुराद पूरी हुई। अर्थात् भोजन-मामग्री बचा लेने के लिए उसने जो युक्ति रची थी, वह सफल हुई।

रात्रि का समय हुआ। ब्राह्मणी ने बची हुई भोजन-सामग्री एक डिब्बे मे बन्द की और डिब्बा सिर पर रखकर रवाना हुई। उसका कोई जार पति नदी के दूसरे किनारे रहता था। ब्राह्मणी अपने जार के पास जाना चाहती थी मगर बीच मे नदी आती थी और नदी मे ग्राह-मगर आदि जन्तुओ का भय था। उस स्त्री ने साथ लाई हुई भोजन-सामग्री एक ओर नदी मे फेंक दी। ग्राह, मगर आदि जतु

भोजन-सामग्री खाने मे लग गये और वह नदी के परले पार चली गई । अपने जार के पास पहुच कर और मनोरथ पूर्ण करके वापस लौटी । छिपे वेष मे राजा भोज ने यह सब घटना देखी । राजा सोचने लगा – मैं तो यह घटना जान गया हू मगर इस प्रकार की घटनाएं घटती हैं, यह बात लोग जानते हैं या नही, यह भी मालूम करना चाहिए । इस प्रकार विचार कर उसने अपने पडितो की सभा मे कहा--

दिवा काकस्य भयात्

अर्थात्—'दिन के समय काक से डरती है ।' इतना कहकर उसने पडितो से कहा-- अब आप लोग कहिए कि इससे आगे क्या होना चाहिए ? दूसरे पडित तो चुप रहे, मगर कालीदास ने कहा—

रात्रि तरति निर्मलजलं

अर्थात्—'वही रात्रि के समय जल मे तैरती है ।' यह सुनकर राजा ने कालीदास से कहा—

तत्र वसन्ति ग्राहादयो

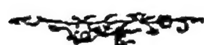
अर्थात्—'जल मे तो ग्राह आदि जतु रहते हैं । इसके उत्तर मे कालीदास ने कहा—

मर्म जानन्ति सासनीन्द्रिका ?

अर्थात्—जो दिन मे कौवो से डरती है और रात्रि मे नदी पार कर जाती है, वह स्त्री ग्राह–मगर आदि जतुओ से बचने का उपाय भी जानती है ।

जैसे कालीदास ने एक पद सुनकर दूसरा पद बना दिया, उसी प्रकार एक पद सुनकर दूसरा बना लेने की शक्ति पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होने से ही प्राप्त होती है। वह आलस्य करने से नहीं प्राप्त होती ।

शास्त्र कहता है--हे मुनियो ! अगर तुम सूत्र की आवृत्ति करते रहोगे तो तुम्हे पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होगी । जैसे हथियार घिसते रहने से तीखा रहता है, उसी प्रकार सूत्रविद्या की आवृत्ति करते रहने से आपकी विद्या भी तीक्ष्ण रहेगी ।



बाईसवां बोल

अनुप्रेक्षा

सूत्र की परावर्त्तना के विषय में इक्कीसवां वोल कहा जा चुका है । अब अनुप्रेक्षा विषयक प्रश्न उपस्थित होता है । सूत्र की आवृत्ति करने वाले को अनुप्रेक्षा करनी ही चाहिए । सूत्र और अर्थ के विषय मे विचार करके, उसमें से तत्त्व की खोज करना अनुप्रेक्षा है । केवल सूत्र पढ लेने मात्र से कुछ नही होता । कितने ही विद्वान् ऐसे देखे या सुने जाते है, जिनका भाषण सुनकर लोग चकित हो जाते हैं । मगर उनका आचरण देखा जाये तो आश्चर्य के साथ यही कहना पडता है कि जिनका भाषण इतना चमत्कारपूर्ण है उनका यह आचरण है ! आचरण और भाषण मे इस प्रकार अन्तर होने का कारण यही है कि उन्हे असली पद्धति से शिक्षा नही दी गई है अथवा उन्होने शिक्षा की वास्तविक पद्धति नही अपनाई है। इसीलिए जैनशास्त्र का कथन है कि ली हुई सूत्रवाचना के विषय मे पूछताछ-परिपृच्छना करो, वार-वार आवृत्ति करो और उस पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करो अर्थात् सूत्रार्थ का मनन करके विचार करो । सूत्रार्थ का मननपूर्वक विचार करने से अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है । इस प्रकार अनुप्रेक्षा में वडा ही आनन्द है । उस आनन्द का वर्णन नही किया जा सकता । उस आनन्द को

वही जान सकता है जो उसका अनुभव करता है। जिस अनुप्रेक्षा मे अनिर्वचनीय आनन्द समाया है, उसके विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न— अणुप्पेहाए ण भंते ! जीव किं जणयइ ?

उत्तर— अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ घणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओप करेइ, दीहकालठिइयाओ हस्सकालठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च ण कम्मं सिय बंधइ, सिय णो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ अणाइयं च णं अणवयग्गं दहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ।

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ के चिन्तन) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीव अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय से आयुकर्म को छोड कर शेष सात कर्मों की गाढी बन्धी हुई प्रकृतियो को शिथिल करता है। अगर वह प्रकृतियाँ लम्बे काल की स्थिति वाली हों तो अल्पकालीन स्थिति वाली बनाता है। तीव्र रस वाली हो तो मंद रस वाली बनाता है। बहुत प्रदेशो वाली हो तो अल्प प्रदेश वाली बनाता है। आयुकर्म कदाचित् बन्धता है, कदाचित् नही बन्धता। अर्थात् पहले आयुकर्म न बन्धा हो तो बन्धता है, अन्यथा नही।

असाता वेदनीय कर्म नही बन्धता और वह जीव अनादि, अनन्त और चतुर्गति रूप अपार ससार को शीघ्र ही पार कर लेता है ।

व्याख्यान

अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ का चिन्तन) करने से लाभ होता है, यह बात प्रसिद्ध है । मगर शिष्य को गुरु के मुख से बात सुनने मे आनन्द आता है । इसीलिए भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने जो कुछ कहा है, उस पर विस्तार के साथ विचार करने का अभी समय नही है । अतएव सक्षेप मे यही कहना पर्याप्त होगा कि अनुप्रक्षा करने से जीव को प्रसन्नता होती है और उससे उसे बडा लाभ होता है। अनुप्रेक्षा करने से जीव को बहिरग आनन्द भी होता है । किन्तु शास्त्र बहिरग आनन्द को लाभ नही समझता, अन्तरग आनन्द को ही लाभ रूप मानता है । अन्तरग आनन्द ही सच्चा आनन्द है । लोग बाह्य आनन्द को आनन्द मानकर भ्रम मे पड हैं पर शास्त्र ऐसी भूल किस प्रकार कर सकता है ? वस्तुत. आत्मा को तो अन्तरग आनन्द और अन्तरग लाभ की ही आवश्यकता है।

अनुप्रेक्षा करने से बुद्धि मे और विवेक मे जागृति आती है । आप बुद्धि को बडी समझते है या ससार के पदार्थों को बडा समझते है ? बचपन मे हमसे पूछा जाता था कि अक्ल बडी या भैंस ? मैं इस प्रश्न का उत्तर दिया करता था कि भैंस बडी नही, अक्ल बडी है । जब दोबारा पूछा जाता कि भैंस क्यो बडी नही और अक्ल क्यो बड़ी

है ? तो मै उत्तर देता—एक अक्लमंद बहुत-सी भैसो को चरा सकता है और कमअक्ल को एक ही भैस मार सकती है।

इस प्रकार अन्य पदार्थों की अपेक्षा बुद्धि महान् है। रेल, तार, वायुयान आदि का वुद्धि द्वारा ही आविष्कार हुआ है। अन्तरग और बहिरग वस्तु मे भी ऐसा ही अन्तर समझना चाहिए। अन्तरग वस्तु बुद्धि के समान है और बहिरग वस्तु भैस के समान है। ऐसा होते हुए भी आप किसे चाहते है ? आप बाह्य वस्तुओ को चाहते हैं या अतरग वस्तुओ को ? कही बाह्य वस्तुओ के लिए आप बुद्धि के दुश्मन तो नही बन जाते ? अगर आप बुद्धि के दुश्मन न बनते हो तो आपको उपदेश देने की आवश्यकता ही न रहे। जहा रोग ही न हो वहा डाक्टर की क्या आवश्यकता है ? और जहा रगडे-झगडे न हो वहा वकील की क्या जरूरत है ? इसी प्रकार अगर आप बुद्धि के शत्रु न बनते हो तो हमे उपदेश देने की आवश्यकता ही क्यो पड़े ? जनता को उपदेश इसी कारण देना पडता है कि वे वुद्धि के शत्रु बनकर खान-पान, पहनावा आदि मे बाह्य पदार्थों को महत्त्व देते हैं और विवेकवुद्धि को तिलाजलि दे बैठते है। जो लोग सदैव विवेकवुद्धि से काम लेते हैं, उनके लिए उपदेश की आवश्यकता ही नही रहती।

आप लोग शरीर पर पाच-छह कपडे पहनते हैं। परन्तु क्या आपका शरीर इतने अधिक कपडे पहनना चाहता हैं ? विवेकवुद्धि कहती है कि शरीर को इतने वस्त्रो की आवश्यकता नही है, फिर भी लोग ध्यान नही देते और अधिक कपड़े लादते है। यह कार्य बुद्धि के शत्रु होने के

समान है या नही ? इसी प्रकार अन्यान्य कार्य भी ऐसे किये जाते है, जिनमे बुद्धि की हीनता प्रकट होती है और साथ ही साथ शरीर की, स्वास्थ्य की, धन की और धर्म की भी हानि होती है। फिर भी लोग इस ओर लक्ष्य नही देते। अनुप्रेक्षा करने से विवेकबुद्धि जागृत होती है और विवेक-बुद्धि की जागृति के फलस्वरूप हानिकारक वस्तुओ का त्यागने का विचार उत्पन्न होता है सूत्रार्थ का चिन्तन अर्थात् अनु-प्रेक्षा करने से विवेकबुद्धि जागृत होती है।

साधारणतया अनुप्रेक्षा के अनेक अर्थ होते हैं, मगर यहां स्वाध्याय के साथ सम्बन्ध होने के कारण अनुप्रेक्षा का अर्थ है तत्त्वविचार करना। भगवान् से प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से अर्थात् सूत्रार्थ का चिन्तन करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भग-वान् ने कहा है—अनुप्रेक्षा करने मे अध्यवसाय की विशुद्धि होती है और उसमे आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की गाढ़ी बन्धी हुई प्रकृतियां शिथिल हो जाती है। कदा-चित् निकाचित् कर्म का बन्धन हो तो वह भी शिथिल हो जाता है।

टीकाकार का कथन है कि अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म को भी अपवर्तनाकरण के योग्य बना देती है। कारण यह है कि अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक अंग है और स्वाध्याय अन्तरंग तप है। तप मे निकाचित् कर्म का बन्धन भी शिथिल हो सकता है। अतएव अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म को भी इस प्रकार शिथिल कर डालती है, जिससे वह कर्म अपवर्त्तना-करण के योग्य बन सकता है। इस तरह अनुप्रेक्षा से गाढ़

बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं और दीर्घकाल की स्थिति वाले कर्म भी अल्पकालीन स्थिति वाले बन जाते हैं।

टीकाकार का कथन है कि देव, मनुष्य और तिर्यंच की दीर्घ स्थिति के सिवाय दूसरी समस्त दीर्घ स्थिति अशुभ है। देवायु; मनुष्यायु और तिर्यंचायु कर्म को छोडकर समस्त कर्मों की दीर्घ स्थिति अशुभ ही मानी गई है। इस कथन के लिए प्रमाण देते हुए टीकाकार कहते हैं—

सव्वांसि पि थिईओ, सुभासुभाण पि होन्ति असुभाओ।
मणुस्सा तिरच्छदेवाउयं च, मोत्तूण सेसाओ ॥

अर्थात्— दीर्घकाल की समस्त स्थितियाँ अशुभ हैं। केवल मनुष्य, देव और तिर्यंच के आयुष्य की दीर्घकालीन स्थिति ही अशुभ नहीं है।

टीकाकार देव, मनुष्य और तिर्यंच के शुभ आयुष्य को छोडकर और सब स्थिति अशुभ मे गिनते हैं। अतएव यहा दीर्घकालीन स्थित्ति को अल्पकालीन करने का जो कथन किया गया है, सो यह कथन अशुभ स्थिति की अपेक्षा समझना चाहिए।

गुरु कहते हैं—हे शिष्य! अनुप्रेक्षा से शुभ अध्यवसाय होता है। सूत्रार्थ का चिन्तन करने से ऐसा शुभ अध्यवसाय होता है कि वह आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों के गाढे बन्धन को ढीला कर देता है। इसी प्रकार सात कर्मों की जो प्रकृति लम्बे समय की स्थिति वाली होती है उसे अल्पकाल की स्थित्ति वाली बना देती है। अर्थात् दीर्घकाल में भोगने योग्य कर्मों को अल्पकाल मे भोगने योग्य बना देती है। इसके अतिरिक्त अनुप्रेक्षा से तीव्र अनुभाग भी मन्द

अनुभाग के रूप मे परिणित हो जाता है अर्थात् तीव्र रस वाले कर्म मन्द रस वाले हो जाते हैं। यहाँ तीव्र अनुभाग से तीव्र अशुभ अनुभाग ही ग्रहण करना चाहिए। अनुप्रेक्षा के द्वारा तीव्र रस देने वाले कर्म मंद रस देने वाले वन जाते है। परन्तु यह वात अशुभ प्रकृतियो के लिए ही समझना चाहिए। अगर शुभ अनुभाग हो तो शुभ अनुभाग मे वृद्धि होती है और अशुभ अनुभाग हो तो अशुभ अनुभाग की वृद्धि होती है, मगर अनुप्रेक्षा तीव्र अशुभ अनुभाग को मन्द बना देती है और शुभ अनुभाग की वृद्धि करती है, क्योकि अनुप्रेक्षा शुभ है। शुभ से शुभ की ही वृद्धि होती है और अशुभ से अशुभ की वृद्धि होती है।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ होता है ? इसके लिए भगवान् कहते है—अनुप्रेक्षा वहुत प्रदेशो वाली कर्म प्रकृति को अल्प प्रदेश वाली वनाती है।

तात्पर्य यह है कि अनुप्रेक्षा से ऐसा शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि वह कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—इन चारों के अशुभ वन्धनो की शुभ मे परिणत कर देता है।

यहा एक प्रश्न किया जा सकता है, वह यह कि यहाँ आयुकर्म को छोड देने का क्या कारण है ? शुभ परिणाम से शुभ आयु का वन्ध होता है और मुनिजन जो अनुप्रेक्षा करते है वह शुभ परिणाम वाली ही होती है। ऐसी दशा मे यहा आयुष्य का निषेध किस उद्देश्य से किया गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुप्रेक्षा से आयुष्य कर्म का वन्ध कदाचित् होता है और कदाचित् नही भी

होता । कारण यह है कि आयुष्य कर्म एक भव में एक बार ही बन्धता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त्तकाल मे बन्धता है । अगर अनुप्रेक्षा करने वाला ससार मे रहता है तो भी वह अशुभ कर्म नही बाधता है, यदि वह मोक्ष जाता है तो आयुष्य कर्म का बन्ध ही नही करता । इस प्रकार अनुप्रेक्षा करने वाले को कदाचित् आयुष्य कर्म बन्धता है, कदाचित् नही बन्धता । इसी कारण यहा आयुष्य-कर्म छोड दिया गया है ।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ है ? इस विषय मे कहा गया है—अनुप्रेक्षा करने वाला असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नही करता अर्थात् बार–बार उसका बन्ध नही करता । यहाँ सूत्रपाठ मे 'च' अक्षर भी आता है । वह इस बात का द्योतक है कि असातावेदनीय कर्म के समान अन्य अशुभ प्रकृतियां भी अनुप्रेक्षा करने वाला नही बाधता ।

यहाँ पर यह शका की जा सकती है कि मूल पाठ में 'भुज्जो भुज्जो' अर्थात् बार-बार पद का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है ?

इस आशका का समाधान यह है कि उक्त पद का प्रयोग करने का आशय यह प्रतीत होता है कि प्रमत्त गुणस्थान मे वर्त्तमान जीव कदाचित् असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है, परन्तु वह बार–बार बन्ध नही करता । इसके अतिरिक्त पाई टीका के अनुसार यहाँ यह पाठान्तर भी है—

सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणई ।

अर्थात्—अनुप्रेक्षा करने वाला बार-बार सातावेदनीय

कर्म बान्धता है ।

यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है । क्योकि यहां प्रमत्तगुणस्थान का प्रश्न नही है वरन् अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप का ही प्रश्न है । अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप से शुभ प्रकृति का बन्ध होना ही सभव है, अतः यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है ।

इस प्रकार अनुप्रेक्षा से कर्म की अशुभ प्रकृति नष्ट होती है और अशुभ प्रकृति नष्ट होने के बाद जो शुभ प्रकृति शेष रहती है, वह ससार के बन्धन मे उस प्रकार डालने वाली नही है, जिस प्रकार अशुभ प्रकृति है। उदाहरण के लिए—वजन की दृष्टि से लोहे की बेडी और सोने की बेडी समान ही है, पर लोहे की बेडी सहज मे तोडी नही जा सकती और सोने की बेडी जब चाहे तभी तोडी जा सकती है। लोहे की बेडी वाला इच्छा के अनुसार किसी भी जगह नही जा सकता, पर सोने की बेडी वाला च हे जहाँ जा सकता है और सन्मान प्राप्त कर सकता है । शुभ प्रकृति और अशुभ प्रकृति मे भी ऐसा ही अन्तर है । शुभ प्रकृति वाला ससार से छूटने का उपाय कर सकता है परतु अशुभ प्रकृति वाला वैसा नही कर सकता ।

शास्त्र के कथनानुसार शुभ प्रकृति वाला जीव इस अनादि ससार मे से निकल सकता है । जीव और ससार का सम्बन्ध कब से है, इसकी कोई आदि नही है । कुछ लोगो का कथन है कि जीव मोक्ष ता जाता है पर वहाँ मे मोह के प्रताप से वह वापिस ससार मे जन्म धारण करता है । जैसे जल निर्मल अवस्था से मलीन अवस्था में और

मलीन से निर्मल अवस्था में पहुच जाता है, उसी प्रकार जीव भी मोक्ष मे जाता और फिर ससार मे आ जाता है और फिर मोक्ष चला जाता है। आत्मा मोक्ष मे तो चला जाता है मगर जब वह अपने शासन की उन्नति और दूसरो के शासन की अवनति देखता है तो उसे राग होता है और जब अपने शासन की अवनति तथा दूसरो के शासन की उन्नति देखता है तब उसे द्वेष होता है। इस प्रकार राग और द्वेष के कारण जीव मोक्ष मे से फिर ससार में अवतार लेता है।

यह कथन अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है। जो आत्मा राग और द्वेष का क्षय होने पर मुक्त हुआ है, उसे फिर राग-द्वेष नही हो सकते और इस कारण वह ससार में भी नही आ सकता। मोक्ष को प्राप्त कर्म-रजहीन आत्मा भी अगर कर्मरज से लिप्त होकर फिर ससार मे आ जाये तो ससार और जीव का सम्बन्ध सादि हो जायेगा और यह भी कहा जा सकेगा कि अमुक जीव अमुक समय से कर्म-रज-सहित है। मगर ऐसा मानना भूलभरा और भ्रामक है, क्योकि जो जीव कर्मरज-रहित हो गया है वह फिर कर्म-रज-सहित नही हो सकता। इस प्रकार आत्मा का मोक्ष मे जाकर फिर ससार मे आना युक्तिसगत नही है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अगर अनादिकालीन है तो वह किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है और जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव और कर्म का

सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि होने पर भी विशेष की अपेक्षा अनादि नही है। गगा नदी के किनारे खडे होकर चार दिन पहले जो जलधारा देखी थी, वही जलधारा चार दिन बाद भी देखी जाये तो वह पहले जैसी ही दिखाई देगी, मगर वास्तव में चार दिन पहले जो जलधारा देखी गई थी वह तो कभी की चली गई है। पानी की धारा लगातार बहती रहती है, इसी कारण उसका सम्बन्ध टूटा हुआ मालूम नही होता, बल्कि ऐसा जान पडता है कि यह वही जलधारा है जो चार दिन पहले देखी थी। मगर वस्तुत. वह जलधारा पहले की नही है। फिर भी उपचार से कहा जाता है कि यही वह जलधारा है। वास्तव मे जो जलधारा पहले देखी गई थी वह तो उसी समय चली गई है। वर्त्तमान मे तो नवीन ही जलधारा है, जो पहले नही देखी गई थी। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले जिन कर्मों का सम्बन्ध हुआ था, वे कभी के भोगे जा चुके हैं, मगर नवीन–नवीन कर्म सदैव आते और बँधते रहते है, इसी कारण यह कहा जाता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। शास्त्र के कथनानुसार कर्म की आदि भी है और अन्त भी है, परन्तु जीव के साथ कर्म एक के बाद दूसरे लगातार आते रहते हैं। इसी कारण जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है।

आशका की जा सकती है कि कर्म जब लगातार आते और बन्धते ही रहते है तो जीव कर्मरहित किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि कर्मप्रवाह को रोक देने से जीव कर्मरहित हो जाता है। नदी के ऊपर से आने वाले प्रवाह को रोक दिया जाये तो धारा टूट जाती

है। उसी प्रकार कर्मप्रवाह को रोक देने से अर्थात् नवीन कर्मों को न आने देने से जीव कर्मरहित हो जाता है।

दूध और घी साथ ही होते है। दूध और घो के विषय में यह नही कहा जा सकता कि पहले दूध हुआ या घो। फिर भा क्रिया द्वारा दूध और घी पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं। इसी प्रकार यह भी नही कहा जा सकता कि पहले आत्मा या पहले कर्म है? कर्म आत्मा के साथ ही है। अनादिकाल से आत्मा कर्मों के साथ और कर्म आत्मा के साथ बद्ध हैं यह कहा जा सकता है। फिर भी प्रयोग द्वारा जैसे दूध मे से घी अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ द्वारा आत्मा और कर्मो का भी पृथक्करण हो सकता है। अरणि को लकडी के साथ ही आग उत्पन्न होती है, फिर भो उस लकडी को घिसने से आग उसमे से बाहर निकल जाती है। इसी प्रकार जीव और कर्म के सयोग भी आदि नही है, तथापि प्रयत्न द्वारा जीव और कर्म पृथक् किये जा सकते हैं।

शास्त्रकार कर्म को हो दुःख कहते हैं। श्री भगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा है कि—दुखी जीव दुःख का स्पर्श करता है या अदुखी जीव दुःख का स्पर्श करता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—'दुखी जीव ही दुःख का स्पर्श करता है, दुःखरहित जीव दुःख का स्पर्श नही करता।' यहा दुःख का अर्थ कर्म है। अर्थात् जिसमे कर्म है वही जीव कर्म का बन्ध करता है, फिर भले ही वह कर्म शुभ हो या अशुभ हो। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म आत्मा के ऊपर आवरण डालते हैं और दोनो प्रकार के कर्म वस्तुतः दुखरूप ही हैं। अतः

कर्म को दु ख रूप मानकर आत्मा को कर्महीन करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

लोग समझते है कि हमे अमुक ने दु ख दिया है या अमुक ने मारा है । मगर ज्ञानीजन कहते हैं कि कारण के बिना कार्य नही हो सकता । इसके साथ ही ज्ञान पुरुष कहते हैं कि तुम दु.ख देने या मारने के कार्य का बाह्य कारण तो देखते हो मगर उसका आन्तरिक कारण नही देखते । तुम यह तो कहते हो कि मुझे रोग हुआ है लेकिन यह क्यो नही देखते कि रोग आया कहा से है ? यद्यपि रोग के कीटाणु हवा मे भी आ सकते हैं तथापि अगर तुम सावधानी रक्खो और रहन-सहन तथा खानपान वगैरह का ध्यान रक्खो तो रोग ही क्यो हो ? तुम जानते हो कि फला चीज हानिकारक है फिर भी उसे खाना क्या रोग को आमन्त्रण देने के समान नही है ? अत यदि सावधानी रखी जाये तो रोग उत्पन्न ही क्यो हो ? यही बात प्रत्येक कार्य के लिए लागू करो और कर्म के विषय मे भी यही देखो कि अगर सावधानी रखी जाये और प्रयत्न किया जाये तो कर्म आयें कैसे ? और आत्मा को दु ख हो कैसे ? आत्मा को दुःख न हो इसीलिए यह प्रार्थना की गई है—

श्वासोश्वास विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकड़ रे ।
अजपाभ्यास प्रकाश हिये विच, सो सुमरण जिनवर रे ॥

भक्त कहते हैं—दु.ख से बचने के लिए परमात्मा का भजन करो । अगर कोई कहे कि मुझे तो समय ही नही मिलता, तो फिर भजन किस प्रकार करूं ? ऐसा कहने वालो को भक्त उत्तर देते हैं - परमात्मा का भजन करने के लिए

तुझे समय नहीं मिलता तो न सही । कोई हानि नहीं है। क्योंकि इस कार्य के लिए किसी खास अलग समय को आवश्यकता नहीं है । परमात्मा का भजन किस प्रकार करना चाहिए, यह सीखने के लिए तो समय की आवश्य- रहती है, लेकिन परमात्मा का स्मरण करने के लिए किसी खास समय की अनिवाय आवश्यकता नहीं है । इसका अभ्याम तो श्वासोच्छ्वास की तरह हो जाता है । जब परमात्मा के स्मरण का अभ्यास श्वासोच्छ्वास लेने और छोडने के अभ्यास की तरह स्वाभाविक बन जाये तो समझना चाहिए कि परमात्मा का भजन स्वाभाविक रूप से ह रहा है ।

शास्त्र मे कितनेक ऐसे उपाय बतलाये गये है कि परमात्मा का नाम न लेने पर भी उसका भजन किया जा सकता है । अजपाभ्यास हो जाने से परमात्मा का नाम लेने की भी आवश्यकता नही रहती । परमात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण करने के अनेक उपायो मे से एक उपाय है— प्रामाणिकतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करना । प्रामाणिकतापूर्वक कर्त्तव्य का पालन करने से परमात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण हो जाता है मान लो, तुम किसी के नौकर हो । तुम्हारा स्वामी सदैव तुम्हारे साथ नही रहता । फिर भी तुम्हे यही मानना चाहिए कि तुम्हारा स्वामी तुम्हारे सामने ही है, अत प्रामाणिकता के साथ काम करना चाहिए । स्वामी भले ही मेरा काम न देखता हो, मगर परमात्मा तो मेरा काम देखता ही है । अतएव मुझे अपने काम में अप्रामाणि-

कता का व्यवहार नही करना चाहिए । इस प्रकार अपने कर्त्तव्य मे प्रामाणिकता रखना परमात्मा का नाम लिये बिना ही परमात्मा के स्मरण करने का और सुखी होने का सरल उपाय है। अगर परमात्मा के भजन के लिए तुम्हे अलग समय नही मिलता तो इसी भाति परमात्मा का स्मरण करो। कोई भी कार्य करते समय यही समझना चाहिए कि परमात्मा हमारा कार्य देख रहा है । इस प्रकार समझ कर प्रामाणिकतापूर्वक कार्य करना भी परमात्मा का स्मरण हो है। मगर लोग प्राय ऐसा करते देखे जाते हैं कि ऊपर से तो परमात्मा का नाम स्मरण करते है, मगर कार्य करते समय मानो परमात्मा को भूल ही जाते है । लेकिन यह सच्चा नामस्मरण नही है । अगर परमात्मा को दृष्टि के सामने रखकर प्रामाणिकता के साथ कर्त्तव्य का पालन किया जाये तो स्व-पर कल्याण हो सकता है।

अनुप्रेक्षा का अन्तिम फल क्या है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते है –अनुप्रेक्षा करने से जीवात्मा अनादि, अनत, दीर्घ मार्ग वाले अपार चतुर्गतिरूप ससार–अरण्य को शीघ्र ही पार कर जाता है।

जिसका किनारा दिखलाई देता हो उसे पार करना कठिन नही है, किन्तु जो अपार है, जिसका किनारा नजर नही आता, उसे पार करना बहुत कठिन है। अब इस बात पर विचार करो कि जो वस्तु अपार के पार पहुचा देती है, वह कैसी होगी ? यहा ससार को प्रवाह की अपेक्षा अपार कहा गया है। यह अपार ससार अनादि है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक यह चार गतिया 'इस अपार ससार के

चार किनारे हैं। इन चार गति रूप किनारो से ससार का अन्त तो मिलता है, मगर इस ससार-अटवो का मार्ग इतना लम्बा है कि जीव भ्रम के कारण भूल मे पड जाता है और इस कारण बाहर निकलना उसके लिए कठिन हो जाता है। फिर भी अनुप्रेक्षा का अवलम्बन लेकर जीव इस ससार-अटवी को भी पार कर सकता है।

मान लीजिए किसी नगर में जाने का मार्ग विकट और दुर्गम है। उस मार्ग मे, बीच-बीच मे विश्राम-स्थल बने है। ऐसी स्थिति मे एक विश्राम-स्थल से दूसरे विश्राम-स्थल तक, दूसरे मे तीसरे विश्राम स्थल तक, इस तरह आगे बढते जाने से विकट और दुर्गम मार्ग भी तय किया जा सकता है। लेकिन अगर मार्ग में ही भटक गये-रास्ता ही भूल गये और यही पता न चला कि अब किस ओर जाना है तो नगर मे पहुचना कठिन हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिए उस नगर का मार्ग विकट और दुर्गम ही है। इसी प्रकार ससार भी अपार है, यद्यपि चार गलिया उसके चार किनारे हैं और उसे पार भी किया जा सकता है। मगर जो भ्रम मे पडकर एक गति से दूसरो गति मे ही भटकता रहता है, उसके लिए ससार अपार ही है। नरक गति का भी पार आता है, मनुष्य गति का भी पार आता है। वनस्पति काय की लम्बी स्थिति होने पर भी उसका पार आ जाता है। देवगति की स्थिति का भी अन्त है। इस प्रकार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच, यह चारो गतियाँ ससार के किनारे तो है लेकिन उसका मार्ग लम्बा है। इस कारण जीव फिर उसमे पड जाता है और इस प्रकार ससार मे ही

गोते लगाता रहता है। इसी कारण ससार अपार कहलाता है। अनुप्रेक्षा से यह अपार ससार भी शीघ्रतापूर्वक पार किया जा सकता है।

कोई मनुष्य अपार समुद्र में गिर पडा है। इसी बीच उसे कोई नौका मिल जाती है। नौका का मालिक समुद्र मे पडे मनुष्य से कहता है—'आ जा, जल्दी कर, इस नौका पर सवार हो जा।' क्या समुद्र मे पडा मनुष्य ऐसे समय विलम्ब करेगा ? अगर वह मनुष्य विचारशील होगा तो इतना विचार अवश्य करेगा कि जो मनुष्य मुझे नौका पर चढने के लिए कह रहा है, वह राग-द्वेष से भरा तो नही है ? और मुझे किसी राग-द्वेष से प्रेरित होकर तो नौका पर चढने को नही कहता ? इस प्रकार विचार करने के बाद अगर उसे खातिरी हो जाये कि वह मनुष्य निस्पृह है और निस्पृहभाव से ही मुझे नौका पर चढने के लिए कहता है तो अगर वह बुद्धिमान् है तो नौका पर चढने मे विलम्ब नही करेगा। बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे अवसर पर नौका का शरण लिये बिना नही रह सकता। इसी प्रकार यह अनादि ससार भी अपार है। इस अपार ससार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा नौका के समान है। ऐसी अवस्था मे ससार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा रूपी नौका का शरण क्यो न लिया जाये ?

अनुप्रेक्षा ऐसी जीवनसाधक है, फिर भी सासारिक लोगो की दशा विचित्र ही नजर आती है। लोग दूसरे सामान्य कार्यों मे तो व्यर्थ समय नष्ट करते हैं मगर अनुप्रेक्षा रूपी नौका को नही अपनाते।

'वह ऐसा है, वह वैसी है और फलां आदमी ऐसा है।' इस प्रकार की अनेक विकथाओ में लोग अपना समय नष्ट करते हैं। उन्हे यह विचार नही आता कि कोई पुरुष चाहे जैसा हो, कोई स्त्री कैसी भी हो, उसकी निन्दा करने से हमे क्या लाभ होगा ? दूसरो की बुराई देखने और निंदा करने से मुझे क्या लाभ होगा ? मैं यही क्यो न देखू कि मैं कैसा हू ! मुझमे कितने विकार भरे हैं, यह मैं न देखू और दूसरो के दोषो की टीका करूँ, यह कहा तक उचित है ? दूसरे के दोष न देखकर अपने ही दोषो को दूर करने मे भलाई है।

बुद्धिमान् पुरुष दूसरे की निन्दा मे नही पडते। वह परमात्मा का शरण लेकर अपनी बुद्धि निर्मल बनाते हैं और अपने अवगुण देखकर कहते है:-

है प्रभु ! मेरा ही सब दोष,
शीलसिन्धु कृपालुनाथ अनाथ आरतपोष ॥ है प्रभु० ।

अर्थात्- प्रभो ! सारा दोष मेरा ही है, और किसी का नही। इस प्रकार भक्तजन अपना ही दोष मानते है। इसी तरह तुम भी अगर परमात्मा का शरण ग्रहण करके अपनी बुद्धि निर्मल बनाओ तो तुम्हें भी यह जान पडेगा कि सारा दोष मेरा ही है। अगर तुम्हारा कोई पडौसी दुखी हो तो इसमें तुम्हारा दोष है या नही ? पडौसी के दुःखी होने मे तुम्हारा पाप भी कारण हो सकता है। शास्त्र के कथनानुसार इष्ट गन्ध, इष्ट रूप आदि पुण्य के प्रभाव से ही प्राप्त होने हैं। तुम इष्ट गन्ध वगैरह चाहते हो तो भाववस्तु की ओर क्यो नही देखते ? तुम यह क्यो नही

समझते कि अगर मेरा पुण्य प्रबल होता तो मुझे दुखी पडौसी क्यो मिलता ? अतएव यदि पडौसी दुखी है तो यह मेरा ही दोष है । तुम्हारा पुण्य और तुम्हारा पाप दूर-दूर तक काम करता है । शास्त्र मे कहा है कि लवणसमुद्र की वेलाएँ सोलह हजार डगमाला के ऊपर चढती हैं । उन्हे अगर दबा न दिया जाये तो गजब हो जाये ! परन्तु बयालीस हजार देव जम्बूद्वीप की तरफ से, साठ हजार देव ऊपर से और बहत्तर हजार देव धातकीखड की ओर से उन समुद्र वेलाओ को दबाये रखते हैं । इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है— हे भगवन् ! क्या वह समुद्रवेला देवो के दबाने से दब जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा -'देव तो अपना कर्त्तव्य पालते है । वास्तव मे समुद्रवेला देवो के दबाने से दबती नही है । समुद्रवेला तो जम्बूदीप और धातकीखड में रहने वाले अरिहंतो, चक्रवर्त्तियो, वासुदेवो, बलदेवो, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एव सम्यग्दृष्टि जीवो के पुण्य-कार्य से दबी रहती है ।' इस प्रकार तुम्हारा पुण्य वहां भी कार्य कर रहा है । अतएव मानना चाहिए कि मेरी पुण्यकरणी के फल का प्रभाव दूसरी जगह और दूसरो पर भी पडता है । इसलिए मुझे खराब काम नही करना चाहिए, अच्छी करणी करते रहना चाहिए । मुझे दूसरो के दोष न देखकर अपने ही दोष देखना चाहिए, और दूसरो की निन्दा का त्याग करके अनुप्रेक्षा करना, जिससे इस विकट ससार-अटवी का अन्त किया जा सके ।

अगर कोई व्यक्ति शास्त्र की अनुप्रेक्षा कर सके तब तो अच्छी ही है, लेकिन जो शास्त्र नही जानते उन्हे पर-

मात्मा का नाम स्मरण करने रूप अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। जो कुछ भी किया जाये, शुद्ध हृदय से करना चाहिए। ऐसा नही होना चाहिए कि —

वेश वचन विराग मन अघ, अवगुणों का कोष।
प्रभु प्रीति प्रीतीति पोली, कपट करतब ठोस ॥हे प्रभु.॥

अर्थात्-- वेष मे और वचन मे वैराग्य दिखलाया जाये और मन मे पाप रहे तो वह अनुप्रेक्षा किसी काम की नही रहती परमात्मा के वचन पर विश्वास न करना और झूठ-कपट पर विश्वास करना अनुप्रेक्षा नही, कपट है। अनुप्रेक्षा करने मे किसी प्रकार की दुर्भावना या सासारिक कामना नही होनी चाहिए। ससार मे रहकर सद्विचार करने वाला व्यक्ति ससार का उपकार करता है, और हिमालय की गुफा मे बैठ कर भी असद् विचार करने वाला पुरुष न केवल अपना ही वरन् ससार का भी अहित करता है। अतएव दूसरो की निन्दा करना छोडकर अपने विकारो को देखो और परमात्मा की प्रार्थना द्वारा उन्हे दूर करके निर्मल बनो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

कहने का आशय यह है कि अनुप्रेक्षा से आत्मा चतुर्गति रूप ससार को पार कर सकता है, अत. अपने चित्त को अनुप्रेक्षा करने मे पिरो दो। तुम कह सकते हो कि चित्त बडा चचल है, इसे अनुप्रेक्षा मे किस प्रकार पिरोया जाये? इसका उत्तर यह है कि चित्त तो चचल है, चचल था और चंचल रहेगा, परन्तु योग की क्रिया द्वारा चचल चित्त भी स्थिर किया जा सकता है। योग की क्रिया द्वारा चित्त स्थिर करके अनुप्रेक्षा करोगे तो बहुत लाभ होगा।

अगर इतना न बन सके तो कम से कम इतना अवश्य करो कि चित्त को बुरी बातो की ओर मत जाने दो । अगर चित्त को इतना भी काबू मे रखने की सावधानी रखोगे तो भी बहुत कुछ कल्याण कर सकोगे । जब बालक पैरो से चलना सीख लेता है तब उसे एक जगह बैठने के लिए कहा जाये तो वह नही बैठ सकता । वह इधर–उधर फिरता रहता है । अतएव इस बात को सावधानी रखनी पडती है कि बालक कही गडहे मे न गिर जाये । मन को भी नन्हें से बालक के समान ही समझो । योगक्रिया के बिना मन रोका नही जा सकता, अतः इस पर सद्गुरु के वचनो का पहरा रखो जिससे यह खराब कामो की तरफ न चला जाये । बालक कुसंगति मे जाता हो तो रोकना पडता है । इसी प्रकार यह मन खराब सगति मे न चला जाये, इस बात की खास सावधानी रखना उचित है । कितने-कितने कष्ट सहने के बाद यह मन मिला है । और उसमे भी सम्यग्दृष्टि तथा श्रावक के मन का कितना अधिक महत्व है । इस पर विचार करो । बडी-बड़ी कठिनाइयो के बाद मिला हुआ मन कही बुरे काम की ओर न चला जाये, इस बात की कितनी चिन्ता रखनी चाहिए ? किसी बडे आदमी का लड़का कुसगति मे पड जाता है तो उसके लिए कितनी चिन्ता की जाती है ? इसी प्रकार तुम भी अपने मन को बुराई की ओर न जाने देने की चिन्ता रखो । अगर मन को काबू मे कर लिया तो आत्मकल्याण साधने मे देर न लगेगी ।



तेईसवां बोल

धर्मकथा

पिछले प्रकरण मे अनुप्रेक्षा पर विचार किया गया है। यहा धर्मकथा के सम्बन्ध मे विचार करना है। अनुप्रेक्षा करने वाला ही धर्म का उपदेश दे सकता है। लोग समझते हैं, धर्मोपदेश देना सरल काम है, मगर दरअसल यह बडा कठिन काम है। धर्मोपदेश द्वारा लोगो को सन्मार्ग पर भी लाया जा सकता है और कुमार्ग पर भी घसीटा जा सकता है। गाधीजी ने अपने एक लेख मे 'हिन्दू-धर्म का उपदेश कौन दे सकता है' इस विषय मे अपने विचार प्रकट किये थे। गाधीजी के विचार बतलाने से पहले यह बतला देना आवश्यक है कि इस विषय मे शास्त्र क्या कहता है। श्रीसूयगडाग के ग्यारहवे अध्ययन मे कहा है.—

आयगुत्ते सया दंते छिन्नसोए अणासवे ।
ते सुद्धधम्माक्खति पडिपुण्ण मणेलिसं ।।

भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि जिस काल मे वीतराग देव नही होते, उस काल मे उनके मार्ग का उपदेश देने का अधिकारी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा--अपनी आत्मा को गुप्त रखने वाला,

क्षमावान्, इन्द्रियो का दमन करने वाला और निरास्रव पुरुष ही वीतराग के मार्ग का उपदेश दे सकता है। जो हिंसा न करता हो, असत्य भाषण न करता हो, किसी की तिनका जैसी तुच्छ चीज भी बिना आज्ञा न लेता हो, स्त्रीमात्र को माता के समान समझता हो और जो धर्मोपकरणो पर यहा तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व न रखता हो वही व्यक्ति शुद्ध धर्म का उपदेश दे सकता है।

धर्म का उपदेश कौन दे सकता है, इस विषय मे भगवान् महावीर का कथन बतलाया जा चुका। अब यह देखना है कि इस सम्बन्ध मे गाधीजी क्या कहते हैं? गाधी जी ने अपने लेख मे लिखा था कि हिन्दूधर्म का उपदेश न तो बडे-बड़े विद्वान् ही दे सकते है और न शकराचार्य ही दे सकते हैं। हिन्दूधर्म का उपदेश देने का अधिकारी वही है जो हिंसा न करता हो असत्य न बोलता हो तथा जो चोरी, मैथुन और परिग्रह वगैरह दुर्गुणो से बचा हुआ हो।

इस प्रकार धर्मकथा करना अर्थात् धर्मोपदेश देना कुछ सरल काम नही है। मगर आज तो धर्मोपदेशक बोलने के लिए तत्पर ही रहते हैं, चाहे वे धर्मोपदेश देने के अधिकारी हो या न हो। शास्त्र कहता है--धर्मोपदेश देने से पहले वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना और अनुप्रेक्षा इन चार बातो का सिद्ध कर लेना आवश्यक है। इन्हे सिद्ध कर लेने वाला ही धर्मोपदेश दे सकता है। वाचना आदि चार बातो को सिद्ध किये बिना जो उपदेश दिया जाता है वह लोगों के हृदय पर सच्चा प्रभाव डालने के बदले उल्टा असर डाल सकता है। शास्त्र मे धर्मकथा सम्बन्धी प्रश्न उक्त चार बातो

के बाद इसी कारण रखा गया है। जिसमें वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना और अनुप्रेक्षा–यह चार बातें हो वही धर्मकथा कर सकता है। इस धर्मकथा के विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है.—

मूलपाठ

प्रश्न—धम्मकहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— धम्मकहाए णं णिज्जरं जणयइ, धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ, पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ?

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर धर्मकथा से निर्जरा होती है और जिन भगवान् के प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन–प्रभाव से जीव भविष्यकाल मे शुभ कर्म का बन्ध करता है।

व्याख्यान

धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने पहली बात तो यह कही है कि धर्मकथा करने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है। धर्मकथा करने वाला किसी भी प्रकार के प्रलोभन मे न पडकर यही समझे कि धर्मकथा के द्वारा मैं अपने कर्मों की निर्जरा कर रहा हू।

स्त्रियां अपने घर का कचरा साफ करती हैं। क्या इसके बदले वे किसी से पैसा मागती हैं ? माता अपनी सतान की सेवा करती है, पर क्या वह सतान से बदले में कुछ मागती है ? अपने घर का कचरा साफ करने वाली स्त्री और अपनी सतान की सेवा करने वाली माता किसी प्रकार का बदला नही मांगती। इसका कारण यह है कि वे उस कार्य को अपना ही कार्य समझती हैं। जब माता भी अपना कार्य समझ कर किसी प्रकार का बदला नही चाहती तो यह कैसे उचित कहा जा सकता है कि साधु धर्मकथा करने का बदला चाहे ? साधु को समझना चाहिए कि मैं जो कुछ भी कर रहा हू, वह सब आत्मा का कचरा साफ करने के लिए ही कर रहा हू अतएव मुझे अपने कार्य का बदला मागना या चाहना किसी भी प्रकार उचित नही है। इतना ही नही, वरन् वाह-वाह की भी इच्छा उसे नही करना चाहिए। साधु को निर्जरा के निमित्त ही सब कार्य करना चाहिए। घर का कचरा साफ करने वाली स्त्री यह नही सोचती कि मैं किसी पर एहसान या उपकार कर रही हू। इसी प्रकार साधु को भी धर्मकथा करके एहसान नही करना चाहिए, न अभिमान ही करना चाहिए। इसी प्रकार साधु को इस बात से दुखी भी नही होना चाहिए कि मेरी बात कोई मानता नही है या सुनता नही है।

कहने का आशय यह है कि जब अपनी आत्मा को पवित्र बना लिया जाये तभी धर्मकथा की जा सकती है। जिस बात का उपदेश देना हो, उसके लिए पहले साधु को स्वय ही सावधान होना चाहिए कि मेरी बात कोई माने या न माने, पर मुझे तो इससे लाभ ही होगा ! उदाहर-

णार्थ—जो साधु या साध्वी स्वय रेशमी वस्त्र पहनेगा वह दूसरो को उसके त्याग का उपदेश किस प्रकार दे सकेगा? साधु को सिर्फ लज्जा की रक्षा के लिए शास्त्रविहित और परिमित वस्त्र रखना चाहिए। उन्हे ऐसे वस्त्रो का उपयोग नही करना चाहिए जो मोह उत्पन्न करे अर्थात् कीमती या सुन्दर हो। हम मे अभी तक वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देने की शक्ति नही आई है, अतएव हमें वस्त्र पहनने पडते हैं, परन्तु वे वस्त्र इतने सादे होने चाहिए कि फैशन के भाव भी उत्पन्न न हो और मोह भी न उपन्न हो।

मतलब यह है कि साधुओ को इस बात का दुःख नही मानना चाहिए कि हमारा उपदेश कोई मानता नही या सुनता नही। उन्हें केवल यही सोचना चाहिए कि मेरा उपदेश कोई माने या न माने, अगर मैं स्वयमेव अपने उपदेश के अनुसार बर्ताव करूँगा तो मेरा कल्याण ही होगा।

धर्मकथा किसे कहते है ? और धर्मकथा के कितने भेद हैं? इस विषय मे श्रीस्थानागसूत्र मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मगर उस सारे वर्णन का सार यही है कि धर्मकथा में धर्म की ही बात होनी चाहिए, दूसरी कोई बात नही होनी चाहिए। धर्मकथा करते समय कभी-कभी स्त्री, राजा या राज्य की बात भी चल पड़ती है लेकिन यह सब बातें धर्म की सिद्धि के लिए ही होनी चाहिए। धर्मकथा मे ऐसा कोई भी वर्णन नही आना चाहिए जिससे मोह की वृद्धि हो। मोह की वृद्धि करने वाली कथा धर्मकथा नही वरन् मोहकथा है।

आजकल धर्मकथा के नाम पर ऐसे-ऐसे रास गाये

जाते है कि उन्हे सुनकर श्रोता और अधिक मोह में पड जाते हैं। इस प्रकार मोहपोषक रासों का गाना धर्मकथा किस प्रकार कहा जा सकता है ? धर्मकथा वही है, जिसे सुनकर मोह उत्पन्न न हो, वल्कि धर्मभावना ही उत्पन्न हो। किसी भी वस्तु का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुप योग भी हो सकता है। इसी प्रकार उपदेश द्वारा धर्मभावना पुष्ट करने वाली धर्मकथा भी कही जाती है और मोह उत्पन्न करने वाली मोहकथा भी कही जा सकती है। मगर सच्ची धर्मकथा तो वही है जो धर्मभावना को ही वढाती हो।

भगवान् से पूछा गया है कि धर्मकथा करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? प्रत्येक कार्य की अच्छाई–वुराई का निर्णय उसके अच्छे या वुरे फल को देखकर ही किया जाता है। फल अच्छा हो तो वह कार्य भी अच्छा माना जाता है और यदि फल अच्छा न हो तो कार्य भी अच्छा नही माना जाता। अब यहा यह देखना है कि धर्मकथा का फल कैसा मिलता है ? धर्मकथा का एक फल भगवान् ने निर्जरा होना बतलाया है। अत. जिससे निर्जरा हो वह धर्मकथा है और जिससे निर्जरा न हो वह धर्मकथा भी नही है।

यहाँ निर्जरा का अभिप्राय कर्म की निर्जरा होना है। धर्मकथा से कर्मों की निर्जरा हुई है या नही, इसकी पहचान विकारो का दूर होना है। अगर विकार दूर हो और चित्त को शान्ति प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि हमने धर्मकथा की है। ऐसा न हो तो वह धर्मकथा ही नही। जिससे प्यास बुझे वही पानी है, जिससे भूख मिटे वही भोजन है। इसी प्रकार अगर चित्त के विकार दूर हो और शान्ति प्राप्त

हो तो समझना चाहिए कि हमारे कर्मों की निर्जरा हो रही है और जिससे कर्मों की निर्जरा हो वही धर्मकथा है।

धर्मकथा से चित्त के विकार दूर होते हैं और चित्त को शान्ति मिलती है। इस कारण सब से पहले यह देख लेने की आवश्यकता है कि अपने विकार कौन-से हैं? डाक्टर रोगी को दवा देने से पहले रोग का निदान करता है। जब तक रोग का निदान न किया जाये तब तक दवा कैसे दी जा सकती है? इसी तरह जबतक विकारो का पता न लगा लिया जाय तब तक यह बात कैसे जानी जा सकती है कि धर्मकथा सुनने से विकार दूर हुए हैं या नही? इस कारण सर्वप्रथम अपने विकारो को जान लेने की आवश्यकता है। विकारो मे सब से बडा विकार मोह है। मोह अन्य विकारो का बीज है। उसीसे दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं। फिर भले ही वह मोह काम का हो या क्रोध का हो, लोभ का हो या दूसरे प्रकार का हो। मगर विकारो का राजा मोह ही है। जिसे सुनने से मोह मे कमी हो वही धर्मकथा है, और जिसे सुनने से मोह मे कमी न हो, बल्कि मोह उलटा बढ जाये, वह धर्मकथा नही, मोहकथा है।

तुम व्याख्यान सुनने के लिए प्रतिदिन आते हो। मगर यह देखो कि क्या तुमने धर्मकथा सुनी है? अगर सुनी है तो क्या तुम्हारे विकार मिटे या कम हुए हैं? अगर नही, तो यही कहा जा सकता है कि या तो धर्मकथा सुनने वालो मे कोई खामी है या सुनाने वाले मे कोई कमी है। मैं अपने सम्बध मे तो यही मानता हू कि खामी मुझ मे ही है। भगवान् का उपदेश सुनकर तो शेर और बकरी भी आपस का वैरभाव छोड़ देते थे।

तुम लोग मेरा उपदेश सुनकर अगर वैरभाव नही छोडते तो इसमे मेरी ही कमी समझनी चाहिए। मुझे अपनी खामी दूर करना चाहिए । अगर तुम अपनी खामी मानते होओ तो तुम्हे भी उसे दूर करना चाहिए । मेरा व्याख्यान देना और तुम्हारा व्याख्यान सुनना कर्म की निर्जरा के लिए ही होना चाहिए । इस प्रकार धर्मकथा का एक फल तो कर्मों की निर्जरा होना है ।

धर्मकथा का दूसरा फल क्या है ? इस सम्बन्ध मे भगवान् कहते हैं—जो धर्मकथा करता है वह प्रवचन की प्रभावना करता है ।

वचन और प्रवचन मे बहुत अन्तर है । वचन साधारण होता है और प्रवचन मे दूसरो की लाभ–हानि समाई रहती है । उदाहरणार्थ एक न्यायाधीश अपने घर पर घर के लोगो से बात-चीत करता है और वही न्यायाधीश न्यायालय मे न्याय के आसन पर बैठकर न्याय करता है । इन दोनो प्रकार की बातो मे कितना अन्तर है ? घर की बातो से किसी का वैसा लाभ-हानि नही, मगर न्यायालय मे बैठकर न्याय देने मे दूसरो का लाभ और अलाभ होता है । वचन और प्रवचन मे भी इतना ही अन्तर है । साधारण बातचीत को वचन कहते हैं और जिस वचन मे दूसरों का लाभ–अलाभ हो उसे प्रवचन कहते हैं । दूसरो के प्रवचन से तो हानि भी हो सकती है मगर वीतराग के प्रवचन मे एकान्त लाभ ही लाभ है । इस प्रकार के प्रवचन की उपेक्षा करना भारी भूल है । इसी भूल के कारण जीव अनादिकाल से ससार में भ्रमण कर रहा है । इस प्रकार की भूल करना मोह का ही प्रताप है ।

न्याय करते समय अंधेरा हो जाये तो न्यायाधीश को प्रकाश की सहायता लेनी पड़ती है, इसी प्रकार निर्ग्रन्थ प्रवचन तो है मगर उसे प्रकाशित करने वाले महात्मा ही हैं। जो धमकथा करता है अर्थात् धर्मदेशना देता है, उसके लिए भगवान ने कहा है कि वह प्रवचन की आराधना करता है। प्रवचन की आराधना करने वाला इस काल मे भी भद्र अर्थात् कल्याणकारी फल प्राप्त करता है और आगामी काल मे भी कल्याणकारी फल प्राप्त करता है।

धर्मकथा करते समय धर्मोपदेशक को यह ख्याल रखना चाहिए कि धर्मकथा के द्वारा मुझे प्रवचन की सेवा करनी है। मुझे धर्मकथा को लोकरजन का साधन नही बनाना है। इसी भावना के साथ धर्मकथा करनी चाहिए।

सयोगवश आज ज्ञानपचमी का दिन है। यह दिन ज्ञान की आराधना करने का है। शास्त्र मे कहा है -

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा नाहोइ छेय पावगं॥

— दशवैकालिकसूत्र।

अर्थात्—पहले ज्ञान की आवश्यकता है और फिर दया आवश्यक है। दया श्रेष्ठ है पर ज्ञान के बिना दया नही हो सकती। दया के लिए ज्ञान होना आवश्यक है। वही दया श्रेष्ठ है जो ज्ञानपूर्वक की जाती है। इसी प्रकार ज्ञान भी वही श्रेष्ठ है जिसमे दया का आविर्भाव होता है। ज्ञान और दया का सम्बन्ध वृक्ष और उसके फल के सबन्ध के समान है। ज्ञान वृक्ष है तो दया उसका फल है। ज्ञान-रहित दया और दयारहित ज्ञान सार्थक नही है।

क्रियात्मक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। व्यवहार में भी क्रियात्मक ज्ञान की आवश्यकता है और आध्यात्म मे भी। जब व्यवहार मे भी सक्रिय ज्ञान उपयोगी होता है तो क्या धर्म के मार्ग में सक्रिय ज्ञान की आवश्यकता नही होगी ? अतएव धर्ममार्ग मे भी सक्रिय ज्ञान होना आवश्यक है।

आज धार्मिक क्षेत्र मे ज्ञान की कमी नजर आती है। तुम्हारे बालक श्रावक-कुल मे जन्मे हैं और उन्होने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया है फिर भी अगर उन्होने धार्मिक ज्ञान का उपार्जन न किया अर्थात् जीव–अजीव का भेद भी न जाना तो ज्ञान की कितनी त्रुटि समझनी चाहिए ? तुम प्रयत्न करो तो अपने बालको के व्यावहारिक ज्ञान को ही आध्यात्मिक ज्ञान मे परिणत कर सकते हो । आत्मा का कल्याण केवल व्यावहारिक ज्ञान से नही हो सकता। आत्म-कल्याण के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव तुम अपने बालको को अगर शान्ति देना चाहते हो तो उन्हे आध्यात्मिक ज्ञान देना चाहिए । यह बात दूसरी है कि आज पहले के समान आध्यात्मिक ज्ञान न दिया जा सकता हो या उसकी आवश्यकता न समझी जाती हो, मगर समय के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान तो देना ही चाहिए। आत्मा अपना कल्याण आध्यात्मिक ज्ञान से ही कर सकता है । आध्यात्मिक ज्ञान से ही आत्मा कल्याण साधता है, साधा है और साधेगा । अत सक्रिय ज्ञान की आराधना करो। इसी में कल्याण है। ज्ञानपचमी की आराधना शास्त्र को धूप देने से नही होती । ज्ञानोपार्जन करना और उपार्जित ज्ञान को सक्रिय रूप देना ही ज्ञानपचमी की सच्ची

आराधना है । ज्ञान की आराधना द्वारा ज्ञानपचमी की आराधना करने मे ही आत्मकल्याण है । ज्ञान आत्मा का प्रकाश है । यह प्रकाश जितना अधिक प्रकाशित करोगे, आत्मा उतना ही अधिक प्रकाशित होगा ।

धर्मदेशना का फल प्रकट करते हुए आगे कहा गया है—

जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्म निबंधइ ।

अर्थात्—धर्मदेशना देने से जीव को आगामीकाल में प्राप्त होने वाला कल्याण प्र प्त होता है । अर्थात् धर्मदेशना से भविष्य मे कल्याण होता है ।

ऊपर के पाठ मे 'भद्दत्ता' शब्द आया है । इस 'भद्दत्ता' के बदले 'भद्द' शब्द ही लिखा गया होता तो क्या हर्ज था ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहा गया है—व्याकरण के नियमानुसार यह भाववाची शब्द है। उसे भाषासौन्दय के लिए भाववाचक प्रत्यय लगा दिया गया है ।

आने वाला काल आगामीकाल कहलाता है । और जो आगामीकाल है वह वर्त्तमान मे आता है । आगामीकाल की कभी समाप्ति नही होती इस प्रकार भविष्यकाल आगामीक'ल कहा जाता है । धर्मदेशना देने से आगामीकाल मे आत्मा का कल्याण होता है ।

जैसे काल का अन्त नही है वैमे ही आत्मा का भी अन्त नही है यह बात जानते हुए भी दो दिन टिकने वाली चीज के लिए तो प्रयत्न करना और जिसका कभी अन्त नही, उस आत्मा के लिए कुछ भी प्रयत्न न करना

कितनी गभीर भूल है ? कहा जा सकता है कि आत्मा के लिए हमे क्या करना चाहिए । इसका समाधान यह है कि शास्त्रो मे कहा है—'सव्वे जीवा सुहमिच्छन्ति ।' अर्थात् सभी जीव सुख चाहते हैं यह मानकर सब जीवो का कल्याण करो । कोई भी काम ऐसा न करो जिससे किसी जीव का अकल्याण हो ।

ससार का प्रत्येक पदार्थ, जो एक प्रकार से कल्याणकारी माना जाता है, दूसरे प्रकार से अकल्याणकारी साबित होता है । मगर धर्मदेशना एक ऐसी वस्तु है जो एकान्त कल्याणकारिणी है। अतएव सासारिक पदार्थों के मोह मे न पडते हुए धर्मदेशना को अपनाओ और जीवन में उतारकर आत्मा का कल्याण साधो ।

धर्मदेशना का फल बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है. उसमे 'अनवरत' शब्द आया है । अनवरत का अर्थ–'निरन्तर' है । अत यहाँ यह कहा गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर कल्याणरूप कर्म का बध होता है ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि किये हुए कर्म तो भोगने ही पडते हैं, फिर यहा निरन्तर शब्द का प्रयोग क्यो किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव पुण्यानुबन्धी कर्म बाँधता है और उसका ज्यो ही अन्त आता है त्यो ही दूसरे पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध हो जाता है । इस प्रकार धर्मदेशना से जीव निरन्तर भद्र कल्याणकारी कर्म का बन्ध करता है । इसी कारण यहा निरन्तर (अनवरत) शब्द का प्रयोग किया गया है । जैसे मुर्गी और उसके अडे मे से किसी को पहले नही कह सकते । दोनो का अविनाभाव

सम्बन्ध है। अर्थात् उसमें यह क्रम नही है कि पहले मुर्गी, फिर अडा, या पहले अडा फिर मुर्गी। दोनो में अविनाभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार धर्मदेशना से पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध होता रहता है, जिससे कि एक से दूसरे पुण्य का क्रम चलता रहता है। पुन्य से पुण्य होने में अन्तर नही पड़ता। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक और दूसरे दीपक से तीसरा प्रकट होता है, उसी प्रकार एक पुण्यानुबन्धी से दूसरा और दूसरे पुण्यानुबन्धी से तीसरा पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध होता ही रहता है। उसमे अन्तर नही पडता। इसलिए कहा गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है।

यहा एक प्रश्न और उपस्थित होता है। वह यह कि धर्मदेशना से यदि निर्जरा होती है तो फिर शुभानुबन्धी फल का मिलना क्यो कहा गया है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि धर्मदेशना से निर्जरा भी होती है और शुभ कर्म का बन्ध भी होता है। अर्थात् जो कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, उन कर्मों मे किसी प्रकार का बन्ध नही होता, पर जो कर्म शेष रहते हैं, उनमे से शुभ कर्मों का ही बन्ध होता है। इस प्रकार धर्मदेशना का फल निर्जरा होने के साथ ही शुभ कर्मों का बन्ध होना भी है।

वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, यह स्वाध्याय के पाच भेद हैं। पाच प्रकार के स्वाध्याय से सूत्र की आराधना होती है। सूत्र की आराधना के विषय मे अगले बोल मे विचार किया जायेगा।



चौवीसवाँ बोल

श्रुत की आराधना



पहले बतलाया जा चुका है कि पाच प्रकार का स्वाध्याय करने से श्रुत की आराधना होती है। यहा श्रुत की आराधना पर विचार किया जाता है।

मूलपाठ

प्रश्न— सुयस्स आराहणाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— सुयस्स आराहणाए णं अन्नाण खवेइ, न य संकिलिस्सइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! श्रुत की आराधना से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— श्रुत की आराधना से अज्ञान दूर होता है और उससे जीव को संक्लेश नही होता ?

व्याख्यान

शास्त्र का सम्यक् प्रकार से सेवन करना श्रुत की आराधना है। वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, इस प्रकार पाच तरह का स्वाध्याय करने से सूत्र की आराधना होती है और सूत्र की आराधना से अज्ञान नष्ट होता है। जिस वस्तु का पहले ज्ञान नही होता, सूत्र की आराधना से उसका ज्ञान हो जाता है। किसी बात का ज्ञान न होना उसका अज्ञान है। सूत्र की आरावना से इस प्रकार का अज्ञान दूर हो जाता है। अज्ञान का नाश हो जाता है, इसका प्रमाण यह है कि सूत्र की आराधना से विशिष्ट बोध उत्पन्न होता है। भगवान कहते हैं— इस प्रकार की सूत्र आराधना से एक तो अज्ञान का नाश होता है और दूसरे संक्लेश उत्पन्न नही होता। तत्त्वज्ञान होने पर राग-द्वेष रूप सक्लेश टिक भी नही सकता।

यों तो ससार असार कहलाता है पर ज्ञानीजन इस असार कहे जाने वाले ससार मे से ही सम्यक् सार खोज निकालते हैं। अगर संसार एकान्त रूप से असार होता और उसमे किंचित् भी सार न होता तो जीव मोक्ष कैसे प्राप्त कर पाते ? सूत्र की आराधना करने से अज्ञान नष्ट होता है और अज्ञान के नाश से ससार मे से सार निकाला जा सकता है। इस प्रकार तत्त्व का बोध होने से किसी प्रकार का सक्लेश नही होता और सक्लेश न होने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है। अज्ञान का नाश होना, तत्त्व का बोध होना, सक्लेश पैदा न होना और वैराग्य की उत्पत्ति होना, यह सब सूत्र की आराधना का ही फल है। सूत्र की आराधना

का फल बतलाते हुए एक संग्रहगाथा में कहा गया है—

जह जह सुयमवगाहइ अइसयरससंजुयमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी नव नव संवेगसद्धाए ॥

अर्थात्—मुनि ज्यों-ज्यों श्रुत मे अवगाहन करता जाता है, त्यों-त्यों उस मुनि को संवेग श्रद्धा मे अपूर्व अपूर्व आह्लाद प्राप्त होता है ।

श्रुत की सूत्र से, अर्थ से सूत्रार्थ से ज्यों ज्यों आराधना की जाती है त्यों त्यों अपूर्व भावों की उत्पत्ति होती है । श्री भगवतीसूत्र का अनेक महात्माओं ने अनेक बार अध्ययन किया पर अन्त मे उन्हें यही कहना पडा कि—'हे भगवती ! मैं तुझमे ज्यों-ज्यों अवगाहन करता हू, त्यों-त्यों मुझे अपूर्व ही भाव मालूम होता है, इसलिए मैं तुझे नमस्कार करता हू ।'

श्रुत की आराधना करने से नवीन नवीन भाव किस प्रकार प्रकट होता है; यह बात यों समझो । मान लो, तुम किसी समुद्र के किनारे फिरने गये हो । समुद्र के किनारे ठंडी हवा बह रही है । तुम समुद्र के जितने नजदीक जाओगे, उतनी ही अधिक ठंडी हवा मालूम होगी । अगर समुद्र मे स्नान करने के लिए घुसोगे तो और भी अधिक ठंड लगेगी । कदाचित् तुमने समुद्र में गहरा गोता लगाया तो वह गहरा मालूम होगा, अधिक ठड भी मालूम होगी पर संभव है समुद्र की गहराई मे से तुम्हे किसी वस्तु की प्राप्ति भी हो जाय ! मोती तो गहरे पानी मे डुबकी मारने से ही मिलते हैं । इसी प्रकार जो पुरुष सूत्ररूपी समुद्र के जितना सन्निकट जाएगा, उसे उतना ही अधिक लाभ होगा ।

जो श्रुत समुद्र में डुबकी मारेगा उसे तो तत्त्व रूपी मोती भी अधिकाधिक प्राप्त होंगे।

तुमने दूसरे अनेक रसों का आस्वादन किया होगा, मगर एक बार शास्त्रो के रस को भी तो चख देखो! शास्त्र का रस कैसा है? शास्त्र का रस चखने के बाद तुम्हे ससार के सभी रस फीके जान पड़ेगे। शास्त्र को ऊपर-ऊपर से मत देखो। अगर कोई पुरुष मुँह मे मोती डालकर उसका मिठास चखना चाहे तो उसे क्या उचित कहा जायेगा? और चखने पर जिस मोती मे मिठास मालूम हो वह सच्चा है? नही। इसी प्रकार सूत्ररूपी मोती को ऊपर-ऊपर से मत चखो। सूत्र सुनकर उसे अपने जीवन मे उतारो तो तुम्हारा मानव-जीवन सार्थक हो जायेगा। सूत्र की आराधना करने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। सूत्र की आराधना करना मानव-जीवन को सार्थक करने की जडी बूटी है। अत सूत्र की आराधना करके जीवन सफल करोगे तो कल्याण होगा।

रागादि भाव के कारण आत्मा मे किस प्रकार सक्लेश उत्पन्न होता है, यह बात सरल करके समझाता हूं। जो पुरुष जिस वस्तु को अपनी समझता है, उसे उसके प्रति राग होता है। इस अवस्था मे अगर उस वस्तु को कोई छीन ले या उसे हानि पहुचाए तो ऐसा करने वाले के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। अगर किसी भी वस्तु को अपनी न मानो हो तो उसके प्रति राग भी न होगा और उसे छीनने या नष्ट करने वाले पर द्वेष भी न होगा। इस प्रकार राग द्वेष न होने के कारण सक्लेश भी उत्पन्न न होगा। वस्तु

में जब आत्मीयता का भाव उत्पन्न होता है तभी उसके कारण राग-द्वेष होता है । राग-द्वेष होने से आत्मा को सक्लेश होना स्वाभाविक है । श्रुत की आराधना करने से वस्तु सम्बन्धी राग-द्वेष मूलक मोह नष्ट हो जाता है और राग-द्वेष नष्ट हो जाने से आत्मा को संक्लेश नहीं होता, बल्कि वैराग्य पैदा होता है । इस प्रकार सूत्र की आराधना का महत्व बहुत अधिक है ।



पच्चीसवां बोल

मानसिक एकाग्रता

शास्त्र का कथन है कि सूत्र की आराधना के लिए मन का एकाग्र होना आवश्यक है । जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक सूत्र की आराधना नहीं हो सकती । अतएव मन की एकाग्रता के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है । मूलपाठ इस प्रकार है:—

मूलपाठ

प्रश्न—एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! मन को एकाग्र करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मन को एकाग्र करने से जीव चित्त का निरोध करता है ।

व्याख्यान

मन की एकाग्रता के विषय में विचार करने के लिए मन क्या है, यह जान लेना आवश्यक है । मन दो प्रकार के है (१) द्रव्य मन और (२) भाव मन 'मन्यते अनेन, इति मन.' । इस व्याख्यान के अनुसार जिसके द्वारा मनन किया जाय उसे मन कहते हैं। इसके सिवाय 'मनन मनः' अर्थात् मनन करना भी मन कहलाता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने मे जिन विशेष पुद्गलो का सचय करता है और जिन पुद्गलो के समूह से आत्मा में मनन करने की शक्ति आती है, उन पुद्गलो का समूह मन कहलाता है । द्रव्य मन से द्रव्य मनन होता है और भाव मन से भाव मनन होता है।

जो वस्तु देखी सुनी जाती है, उसके विषय मे मन ही किसी प्रकार का विचार करता है । उदाहरणार्थ–आँख खम्भे को देखती है, पर यदि मन न हो तो 'यह खम्भा है' यह बात जानी नही जा सकती। इस प्रकार वस्तु को देखने पर भी, अगर देखने के साथ मन न हो तो 'यह अमुक वस्तु है' इस प्रकार ज्ञान नही हो सकता। अनेक बार हम अनेक वस्तुएँ देखते है, लेकिन उस देखने के साथ अगर मन नही होता तो वह वस्तुएँ ध्यान मे नही आती अर्थात् उनका ज्ञान नही होता। इस तरह जिसकी सहायता से वस्तु जानी जाय और जानी हुई वस्तु के विषय मे कल्पना करके मनन किया जा सके, उसे मन कहते हैं ।

द्रव्य मन और भाव मन सज्ञी जीव को ही होता है। असज्ञी जीव के भी मन तो होता है, मगर उसके भाव मन

ही होता है, द्रव्य मन नही। इस कारण असज्ञी जीव किसी वस्तु पर विचार नही कर सकते। अधे के सामने दर्पण रख दिया जाये तो दर्पण मे अधे का प्रतिविम्ब तो पडता है मगर अधा उस प्रतिविम्ब को देख नही सकता, क्योकि उसके पास देखने का साधन नही है । इसी प्रकार असज्ञी जीव को भाव मन तो होता है पर द्रव्य मन नही होता । इस कारण असज्ञी जीव वस्तु सामने होने पर भी उसके संबन्ध मे कुछ विचार नही कर सकते । जब भाव मन के साथ द्रव्य मन होता है तभी वस्तु के विषय मे विचार किया जा सकता है ।

मन और चित्त पर्यायवाची शब्द है । भगवान् ने कहा है—मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

प्रश्न खड़ा होता है— मन को किस प्रकार वश में किया जाये और किस प्रकार एकाग्र रखा जाये ? आंखे बद करके वश मे की जा सकती है, नाक को दबा कर वश में किया जा सकता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो को भी अकुश द्वारा वश मे किया जा सकता है । मगर मन किस प्रकार वश मे किया जाये ? वह एक विकट प्रश्न है । कुछ लोगों ने तो यहा तक कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः ।

अर्थात्— मन ही मनुष्यो के बन्ध और मोक्ष का कारण है ।

मन का सकल्प-विकल्प कैसा होता है, यह बात सभी जानते है । मनुष्य हो या पशु, जिसके मन है, उनका मन सकल्प-विकल्प करता ही रहता है । अच्छे या बुरे काम

मन के सकल्प–विकल्प से ही होते है। बिल्ली उन्ही दांतों से अपने बच्चो को दबाती है और उन्ही से चूहे से को दबाती है। दात तो वही है मगर मन के सकल्प–विकल्प मे अन्तर पड जाने से वस्तु मे भी अन्तर पड जाता है।

मन मे यह जो अन्तर रहता है, उसका कारण मन की चचलता है। जब मन को चचलता दूर हो जाये और मन में किसी प्रकार का भेदभाव न रहे तब समझना चाहिए कि मन वश मे हो गया है। जब तक मन मे भेदभाव बना रहे तब तक मन वश मे नही हुआ है।

कहा जा सकता है कि चित्त की चचलता दूर करना और मन मे तनिक भी भेदभ व न आने देना तो बहुत ही कठिन कार्य है। सब साधु भी इतना कठिन कार्य नही कर सकते तो गृहस्थ मन को कैसे वश कर सकते हैं?

इसका उत्तर यह है कि इस सबन्ध मे साधु या गृहस्थ का कोई प्रश्न ही नही है। जो कोई मनुष्य अभ्यास और वैराग्य को जीवन में उतारता है, वही मन को वश कर सकता है। मन को वश करने के अभ्यास और वैराग्य यही दो उपाय है। मन को वश मे लाने का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार बहुत लम्बा है। योगक्रिया का समावेश इसी अभ्यास मे होता है। इस सम्बन्ध में टीकाकार कहते है कि मन को अप्रशस्त में जाने से रोक कर प्रशस्त मे पिरो देने से धीरे–धीरे मन एकाग्र हो जायेगा। अर्थात् एक ओर से तो मन को अप्रशस्त मे जाने से रोको और दूसरी ओर उसे परमात्मा के ध्यान मे पिरोते जाओ तो मन वश मे किया जा सकेगा और उसकी एकाग्रता भी

साधी जा सकेगी ।

मन को वश में करने के लिए वैराग्य भी एक उपाय है। इन्द्रियो का समूह बलवान होने के कारण मन को अपनी ओर खीचता रहता है । अत पदार्थों के प्रति विरक्तिभाव रखना उचित है । विरक्ति होने से इन्द्रियाँ उन पदार्थों की ओर नही खिचेगी और तब मन भी उनकी ओर नही जाएगा और स्थिर रहेगा । वस्तु के वास्तविक स्वरूप का विचार करके उसके प्रति वैराग्य रखना चाहिए। वैराग्य धारण करने से मन भी स्थिर रहेगा । वस्तु के असली स्वरूप का विचार न करने के कारण ही वस्तु के प्रति राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है । वस्तु का वास्तविक स्वरूप विचारा जाये तो वैराग्य पैदा हुए बिना नही रह सकता और मन भी वश मे किया जा सकता है । इस प्रकार मन को वश मे करने का और एकाग्र करने का उपाय अभ्यास और वैराग्य है । अभ्यास और वैराग्य से ही मन पर काबू किया जा सकता है ।

लोगो को रुपये के प्रति बहुत ममता है । मगर रुपया क्या है, किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और रुपये के प्रचलन से समाज और देश की आन्तरिक स्थिति को कितनी अधिक हानि पहुची है, इन बातो पर पूरा विचार किया जाये तो रुपये के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रहेगा । सिक्के का जितना अधिक प्रचार हुआ, उतने ही अधिक अनर्थ बढ़े हैं । सिक्के के लिए ही पशुवध किया जाता है । फूक्का का घातक प्रयोग करके गाय के आचल मे से दूध काढने का पापपूर्ण कार्य भी रुपये के लिए ही

किया जाता है । इस प्रकार रुपये से होने वाले अनर्थों का विचार किया जाये तो रुपये के प्रति वैराग्य होगा ही ।

- बडे-बडे शहरो मे कुलागनाएँ वेश्या बन कर अपना शरीर दूसरों को किसलिए सौंपती हैं ? केवल पैसे के लिए। उन्हे पैसे पर ममता न होती तो शायद देव भी उन्हे विचलित न कर सकते । पैसा ही उनका सतीत्व नष्ट कराता है । भाई-भाई और पिता-पुत्र के बीच पैसे के कारण तकरार होती है । राजा लोग भी प्रजा के कल्याण के लिए राज्य नही चलाते, वरन् पैसे के लिए ही राज्य चलाते हैं।

इस प्रकार पैसे के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से उसके प्रति वैराग्य होगा ही । अनर्थ उत्पन्न करने वाला और राग-द्वेष की वृद्धि करने वाला कनक और कामनी ही है । कनक और कामनी के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से गृहस्थ को भी वैराग्य हो सकता है । इस तरह मन को वश करने के विषय मे साधु और गृहस्थ का कोई भेदभाव बाधक नही हो सकता । कोई भी क्यो न हो, अभ्यास और वैराग्य द्वारा अगर वह मन को वश करना चाहता है तो अवश्य कर सकता है ।

मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है। चित्त का निरोध तो मन की एकाग्रता का परम्परा फल है। मन की एकाग्रता का साक्षात् फल यह है कि एकाग्र मन वाला जो कुछ भी बोलता है, सत्य ही बोलता है और जो मनोरथ करता है वह पूर्ण ही होता है । मानसिक एकाग्रता से ही अमोघ भाषण और मनोरथ की पूर्ति होती है । अतः मन को एकाग्र करो । मन को एकाग्र करने के लिए मैं

बारम्बार यही कहता हूं कि परमात्मा का भजन करो। परमात्मा के भजन से मन एकाग्र होगा। दूसरे कामो से मन हटा कर परमात्मा के भजन मे ही मन पिरो दो। परमात्मा के भजन का सहारा लेकर मन को एकाग्र करने से चित्त की चचलना दूर होगी। इसलिए परमात्मा का भजन करने मे देरी मत करो। कहा भी है—

दम पर दम हरि भज, नहीं भरोसा दम का,
एक दम में निकल जावेगा दम आदम का।
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू,
एक नाम सांई का जप हिरदे में धर तू॥
नर! इसी नाम से तर जा भवसागर पू,
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू॥

श्वास का विश्वास नही। श्वास तो वायु है। कदाचित् आवे, कदाचित् न भी आवे। इसका क्या भरोसा! इसलिए मुख मे से श्वास निकलने के पहले ही परमात्मा का भजन करो। इस प्रकार परमात्मा का भजन करने से मन एकाग्र होगा।

आत्मा एक बडी भूल कर रहा है। वह यह कि तुच्छ चीजो मे मन का प्रयोग करके आत्मा, परमात्मा को भूल रहा है। वह इतना भी तो नही सोचता कि मेरा मन परमात्मा मे एकाग्र हो जायेगा तो उस दशा मे मुझे तुच्छ वस्तुओ की क्या कमी रह जायेगी। इस प्रकार विचार न करके आत्मा अपने मन को इधर-उधर दौडाया करता है। यही मन की चचलता है। इस चचलता को दूर करने के लिए ही शास्त्रकार मन की एकाग्रता की आवश्यकता बत-

छब्बीसवां बोल

संयम

जिमका मन एकाग्र होता है उन्ही का संयम शोभायमान होता है और जिनमे सयम है उन्ही के मन की एकाग्रता सार्थक होती है। अत. सयम के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है :—

मूलपाठ

प्रश्न संजमेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर – संजमेण अणण्हयत्तं जणयइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन् ! सयम से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर – संयम से अनाहतपन (अनाश्रव-आते हुए कर्मों का निरोध) प्राप्त होता है ।

व्याख्यान

सयम के विषय मे भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर विचार करने से पहले यह देखना चाहिए कि सयम क्या है ?

शास्त्र में सयम के विषम में विस्तृत विवेचन किया गया है। उस सब का यहा त्रिवेचन किया जाये तो बहुत अधिक विस्तार होगा । अतएव सयम के विषय में यहा सक्षेप मे ही विवेचन किया जायेगा ।

आजकल सयम शब्द पारिभाषिक बन गया है। मगर विचार करने से मालूम होगा कि सयम का अर्थ बहुत विस्तृत है । शास्त्र मे सयम के सत्तरह भेद बतलाये गये है । इन भेदो मे सयम के सभी अर्थों का समावेश हो जाता है । सयम के सत्तरह भेद दो प्रकार से बतलाये गये हैं । पॉच आस्रवो को रोकना, पाच इन्द्रियो को जीतना, चार कषायो का क्षय करना और मन, वचन तथा काय के योग का निरोध करना, यह सत्तरह प्रकार का संयम है ।

दूसरी तरह से निम्नलिखित सत्तरह भेद होते है – (१) पृथ्वीकाय सयम (२) अपकाय सयम (३) वायुकाय सयम (४) तेजकाय सयम (५) वनस्पतिकाय सयम ६) द्वीन्द्रियकाय सयम (७) त्रीन्द्रियकाय सयम (८) चतुरिन्द्रियकाय सयम (९) पचेन्द्रियकाय सयम (१०) अजीवकाय सयम (११) प्रेक्षा सयम (१२) उपेक्षा सयम (१३) प्रमार्जना संयम (१४) परिस्थापना सयम (१५) मन सयम (१६) वचन सयम (१७) काय सयम । इस तरह दो प्रकार से सयम के सत्तरह भेद है। सयम का विस्तारपूर्वक विचार करने मे सभी शास्त्र उसके अन्तर्गत हो जाते है ।

जीवन भर के लिए पाच आस्रवो से, तीन करण और तीन योग द्वारा निवृत्त होना सयम स्वीकार करना कहलाता है । किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, असत्य न बोलना,

मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण न करना, ससार की समस्त स्त्रियो को माता–बहिन के समान समझना और भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्मोपकरण रखने के सिवाय कोई परिग्रह न रखना, इस प्रकार पाच आस्रवो से निवृत्त होना और पाच महाव्रतो का पालन करना और पाच इन्द्रियो का दमन करना । पॉच इन्द्रियो को दमन करने का अर्थ यह नही है कि आख बन्द कर लेना या कान मे शब्द ही न पडने देना। ऐसा करना इन्द्रियो का निरोध नही है । बल्कि इन्द्रियो को विषयो की ओर जाने ही न देना इन्द्रियनिरोध कहलाता है । प्रत्येक इन्द्रिय का उपयोग करते समय ज्ञानदृष्टि से विचार कर लिया जाये तो अनेक अनर्थो से बचा जा सकता है ।

जब तुम्हारे कान मे कोई शब्द पडता है तो तुम्हे सोचना चाहिए - मेरा कान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, वगैरह प्राप्त करने का साधन है । अतएव मेरे कान मे जो शब्द पडे हैं वे मेरा अज्ञान वढाने वाले न हो जाए, यह बात मुझे खयाल मे रखनी चाहिए । जब तुम्हारे कान मे कटुक शब्द टकराते हैं तब तुम्हारा हृदय कॉप उठता है। मगर उस समय ऐसा विचार कर निश्चल रहना चाहिए कि यह तो मेरे धर्म की कसौटी है । यह कटु शब्द शिक्षा देते हैं कि समभाव धारण करने से ही धर्म की रक्षा होगी । अतएव कटुक शब्दो को धर्म पर स्थिर करने मे सहायक मानकर समभाव सीखना चाहिए ।

इसी प्रकार कोई मनुष्य तुम्हे लम्पट या ठग कहे तो तुम्हे सोचना चाहिए कि मैं एकेन्द्रिय होता तो क्या मुझे यह

शब्द सुनने को मिलते ? और उस अवस्था मे कोई मुझे यह शब्द कहता ? कदाचित् कोई कहता भी तो मैं उन्हे समझ ही न सकता। अब जब मुझे समझने योग्य इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं तो इस प्रकार के शब्द सुनकर मेरा क्या कर्त्तव्य होता है ? वह मुझे लम्पट और ठग कहता है। मुझे सोचना चाहिए कि क्या मुझमे ये दुर्गुण है ? अगर मुझमे यह दुर्गुण है तो मुझे दूर कर देना चाहिए। वह बेचारा गलत नही कह रहा है। विचार करने पर उक्त दुर्गुण अपने मे दिखाई न दे तो सोचना चाहिए हे आत्मा ! क्या तू इतना कायर है कि इस प्रकार के कठोर शब्दो को भी नही सहन कर सकता ? कठोर शब्द सुनने जितनी भी सहिष्णुता तुझमे नही है ! यह कायरता तुझे शोभा नही देती। जो व्यक्ति अप-शब्द कहता है उसे भी चतुर समझ। वह भी अपशब्दो को खराब मानता है। इस प्रकार तेरा और उसका ध्येय एक है। इस प्रकार विचार करके अपशब्द सुनकर भी जो स्थिर रहता है, उसी ने श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है।

इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री का रूप देखकर ज्ञानीजन विचार करते है इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही यह सुन्दर रूप मिला है। अपने सुन्दर रूप द्वारा यह स्त्री मुझे शिक्षा दे रही है कि अगर तू पुण्य का सचय करेगा तो सुन्दरता प्रदान करने वाले पुद्गल तेरे दास बन जाएगे।

किसी सुन्दर महल को देखकर भी यह सोचना चाहिए कि यह महल पुण्य के प्रताप से ही बना है। मेरे लिए यही उचित है कि मैं इस महल की ओर दृष्टि ही न डालूं। फिर भी उस पर अगर मेरी नजर जा ही पडती है तो मुझे

मानना चाहिए कि यह महल किसी के मस्तिष्क की ही उपज है । मस्तिष्क से यह महल बना है, लेकिन यदि मस्तिष्क ही बिगड जाये तो कितनी बडी खराबी होगी ? तो फिर सुन्दर महल देखकर मैं अपना दिमाग क्यो बिगाड़ूं? अगर मैंने अपना मन और मस्तिष्क स्वच्छ रखकर सयम का पालन किया तो मेरे लिए देवो के महल भी तुच्छ बन जाएँगे ।

महाभारत मे व्यास को झौंपडी और युधिष्ठिर के महल की तुलना की गई है और युधिष्ठिर के महल से व्यास की झौपडी अधिक अच्छी बतलाई गई है । इसका कारण यह है कि जहा निवास करके आत्मा अपना कल्याण-साधन कर सके वही स्थान ऊचा है और जहाँ रहने से आत्मा का अकल्याण हो वह स्थान नीचा है । जहाँ रहने से भावना उन्नत रहे वह स्थान ऊचा है और जहाँ रहने से भावना नीची हो जाये वह स्थान नीचा है । अगर तुम इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा विवेक जागृत हो जायेगा।

गुरु के प्रताप से हम लोग सहज ही अनेक पापो से बचे हुए हैं । जो श्रावक अपना श्रावकपन पालन करता है वह भी पहले देवलोक से नीचे नही जाता । मगर एक-एक पाई के लिए भी झूठ बोलना कोई श्रावकपन नही है। क्या मैं तुमसे यह आशा रखू कि तुम असत्य भाषण न करोगे ? अगर कोई यह कहता है कि झूठ बोले बिना काम नही चलता तो उससे कहना चाहिए कि असत्य के बिना काम नही चलता होता तो तीर्थङ्कर भगवान् ने असत्य बोलने का निषेध क्यो किया होता ? क्या वे इतना भी नही सम-

झते थे ? वास्तव में यह समझ ही भ्रमपूर्ण है। इस भूल को भूल मान कर असत्य का त्याग करो और सत्य का पालन करो। सत्य की आराधना करने मे कदाचित् कोई कष्ट आ पडे तो उन्हे प्रसन्नतापूर्वक सहो मगर सत्य पर अटल रहो। क्या हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन करने मे आये हुए कष्ट सहने मे आनन्द नही माना था ? फिर आज सत्य का पालन करने मे आये हुए कष्टो से क्यो घबराते हो ? आज लोग व्यवहार साधने मे ही लगे रहते है और समझ बैठे है कि असत्य के बिना हमारा व्यवहार चल ही नही सकता। मगर यह मानना गम्भीर भूल है। दरअसल तो सत्य के आचरण से ही व्यवहार सरल बनता है। असत्य के आचरण से व्यवहार मे वक्रता आ जाती है। भगवान् ने सत्य का महत्व बतलाते हुए यहा तक कहा है कि 'त सच्च खु भयव।' अर्थात् सत्य ही भगवान् है। ऐसी दशा मे सत्य की उपेक्षा करना कहा तक उचित है ? सत्य पर अटल विश्वास रखने से तुम्हारा कोई भी कार्य नही अटक सकता और न कोई किसी प्रकार की हानि पहुचा सकता है।

कहने का आशय यह है कि इन्द्रियो को और मन को वश मे करने के साथ व्यवहार की रक्षा भी करनी चाहिए। निश्चय का ही आश्रय करके व्यवहार को त्याग देना उचित नही है। केवली भगवान् भी इसलिए परिषह सहन करते हैं कि हमे देखकर दूसरे लोग भी परिषह सहने की सहिष्णुता सीखे। इस प्रकार केवली को भी 'व्यवहार की रक्षा करना चाहिए' ऐसा प्रकट करते है। अतएव केवल निश्चय को ही पकड कर नही बैठा रहना चाहिए।

इन्द्रियों और मन को वश मे करने के साथ चार कषायों को भी जीतना चाहिए और मन, वचन तथा काय के योग को भी रोकना चाहिए । यह सत्तरह प्रकार का सयम है ।

इस तरह सत्तर तरह के सयम का पालन करने वाले का मन एकाग्र हो जाता है । जिसका मन एकाग्र नही रहता वह इस प्रकार के उत्कृष्ट सयम का पालन नही कर सकता। शास्त्र में कहा है

अच्छदा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ ।

— दशवैकालिकसूत्र

अर्थात्—जो मनुष्य पदार्थ न मिलने के कारण उनका उपभोग नही कर सकता, फिर भी जिसका मन उन पदार्थों की ओर दौडता है, उसे उन पदार्थों का त्यागी नही कह सकते वह भोगी ही कहा जायेगा । इसके विपरीत जो पुरुष पदार्थ मौजूद रहने पर भी उसकी ओर अपना मन नही जाने देता वह उन पदार्थों का भोगी नही वरन् त्यागी ही कहलाता है ।

तुम इस बात का विचार करो कि हमारे अन्दर सयम है या नही ? अगर है तो उसका ठीक तरह पालन करते हो या नही ? आज बाहर के फैशन से, बाहर के भपके से और दूसरो की नकल करने से तुम्हारे सयम की कितनी हानि हो रही है, इसका विचार करके फैशन से बचो और सयम-मय जीवन बनाओ तो तुम्हारा और दूसरो का कल्याण होगा ।

सयम के फल के विषय मे भगवान् ने कहा है—

सयम से जीव मे अनाहतपन आता है। साधारणतया संयम का फल आस्रवरहित होना माना जाता है पर यह साक्षात् अर्थ नही है। सयम के साक्षात् अथ के विषय मे टीकाकार कहते हैं सयम से जीव ऐसा फल प्राप्त करता है, जिसमे कर्म की विद्यमानता ही नही रहती। सयम से आश्रवरहित अवस्था प्राप्त होती है और यह अवस्था प्राप्त होने के बाद जीव निष्कर्म दशा प्राप्त कर लेता है। सूत्रसिद्धान्त बीज रूप में ही कोई बात कहते हैं। अत. उसका विस्तार करके विचार करना आवश्यक है।

सयम का फल निष्कर्म अवस्था प्राप्त करना कहा गया है। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि निष्कर्म अवस्था तो तप द्वारा प्राप्त हाती है-। अगर सयम से ही कर्मरहित अवस्था प्राप्त होती हो तो तप के विषय मे जुदा प्रश्न क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्णन करने मे एक वस्तु ही एक वार आती है। तप और सयम सवन्धी प्रश्न अलग-अलग हैं परन्तु दोनो का अर्थ तो एक ही है। चारित्र का अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि चय का अर्थ 'कर्मसचय' होता है और 'रित्र' का अर्थ रिक्त करना है। अर्थात् कर्मसचय को रिक्त (खाली) करना चारित्र है। चारित्र कहो या सयम कहो, एक ही बात है। अत चारित्र का फल ही सयम का फल है। चारित्र का फल कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना है और सयम का भी यही फल है।

कोई कर्म पुराना होता है और कोई अनागत—आगे आने वाला-होता है। कोई ऋण पुराना होता है और कोई आगे किया जाने वाला होता है। पुराने कर्मों की तो सीमा

होती है मगर नवीन कर्म असीम होते हैं । इस कथन का एक उद्देश्य है । जो लोग कहते है कि सयम का फल यदि अकर्म अवस्था प्राप्त करना है तो तप का फल अलग क्यो बतलाया गया है ? यदि तप और सयम का फल एक ही है तो दोनो का अलग-अलग, प्रश्न रूप मे वर्णन क्यों किया गया है ? अगर दोनो का वर्णन अलग-अलग है तो तप और सयम मे क्या अन्तर है ? इन प्रश्नो का, मेरी समझ मे, यह उत्तर दिया जा सकता है कि सयम आगे आने वाले कर्मों को रोकता है और तप आगत अर्थात् सचित कर्मों को नष्ट करता है सचित कर्मों की तो सीमा होती है पर अनागत कर्मों की सीमा नही होती है । सयम नवीन कर्म नही बधने देता और पुराने कर्मों का नाश करता है । संयम असीम कर्मों को रोकता है, अतएव सयम का कार्य महान् है । इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयम से निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है । जो महान् कार्य करता है, उसी का पद ऊचा माना जाता है ।

इस कथन मे यह विचारणीय हो जाता है कि जो भूतकाल का खयाल नही करता और भविष्य का ध्यान नही रखता, सिर्फ वतमान के सुख मे ही डूबा रहता है वह चक्कर मे पड जाता है । अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह भूतकाल को नजर के सामने रखकर अपने भविष्य का सुधार करे । इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पहले जो लोग युद्ध मे लडने के लिए जाते थे और अपने प्राणो की भी बलि चढा देते थे, क्या उन्हे प्राण प्यारे नही थे ? प्राण तो उन्हे भी प्यारे थे मगर भविष्य की प्रजा परतन्त्र न बने और कायर न हो जाये,

इसी दृष्टि से वे राजपाट छोडकर युद्ध करने जाते थे और अपने प्राणो को तुच्छ समझते थे ।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सामने रखकर सयम के विषय मे विचार करो । जैसे योद्धागण अपने राजपाट और प्राणो की ममता त्याग कर लडने के लिए जाते थे और भविष्य की प्रजा के सामने पराधीनता सहन न करने का आदर्श उपस्थित करते थे, उसी प्रकार प्राचीनकाल के जो लोग राजपाट त्याग कर सयम स्वीकार करते थे, वे भी आत्मकल्याण साधने के साथ, इस आदर्श द्वारा जगत् का कल्याण करते थे । उनकी सतान सोचती थी – हमारे पूर्वजो ने तृष्णा जीती थी तो हम क्यो तृष्णा मे ही फसे रहे ? प्राचीनकाल के राजा या तो सयम पालन करते करते मृत्यु से भेटते थे या युद्ध करते-करते । वे घर मे छटपटाते हुए नही मरते थे । आजकल के लोग तो घर मे पडे-पडे, हाय-हाय करते हुए मरण के शिकार बनते है ऐसे कायर लोग अपना अकल्याण तो करते ही है, साथ ही दूसरो का भी अकल्याण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं– हे आत्मा ! तू भूत-भविष्य का विचार करके सयम को स्वीकार कर । सयम आते हुए कर्मो को रोकता है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त कराता है ।

कोई कह सकता है कि क्या हमे सयम स्वीकार कर लेना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि अगर पूर्ण सयम स्वीकार कर सको तो अच्छा ही है, अन्यथा ससार के प्रति जो ममता है उसे ही कम करो ! इतना करोगे तो भी बहुत है । आज लोग साधन को ही साध्य मानने की भूल कर

रहे हैं। उदाहरणार्थ–धन व्यावहारिक कार्य का एक साधन है। धन के द्वारा व्यवहारोपयोगी वस्तुए प्राप्त की जा सकती है। मगर हुआ यह कि लोगो ने इस साधन को ही साध्य समझ लिया है और वह धनोपार्जन करने में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। जरा विचार तो करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो? कहने को तो झट कह दोगे कि हम धन के लिए नही हैं, धन हमारे लिए है। मगर कथनी के अनुकूल करनी है या नही? सब से पहले यही सोचो कि तुम कौन हो? यह विचार कर फिर यह भी विचार करो कि धन किसके लिए है? तुम रक्त, हाड या मांस नही हो। यह सब धातुए तो शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। अत धन हाड-मास के लिए नही वरन् आत्मा के लिए है। यह बात भलीभांति समझकर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। यह बात समझ लेने वाला धन का गुलाम नही बनेगा, अपितु धन का स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नही, साधन मानकर धनोपार्जन मे ही अपना जीवन समाप्त नही कर देगा। वह जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न भी करेगा।

अगर आप यह मानते है कि धन आपके लिए है, आप धन के लिए नही है तो मैं पूछता हू कि आप धन के लिए पाप तो नही करते? असत्य भाषण, विश्वासघात और पिता–पुत्र आदि के बीच क्लेश किसके लिए होते है? धन के लिए ही सब होता है। धन से ससार मे क्लेश-कलह होना इस बात का प्रमाण है कि लोगो ने धन को साधन मानने के बदले साध्य समझ लिया है। लोगो की इस भूल

के कारण ही ससार मे दुख व्याप रहा है। धन को साध्य मानने के बदले साधन माना जाये और लोकहित मे उसका सद्व्यय किया जाये तो कहा जा सकता है कि धन का सदुपयोग हुआ है। इसके बदले आप साधनसम्पन्न होने पर भी यदि किसी वस्त्रविहीन को ठण्ड से ठिठुरता देखकर भी और भूख-प्यास से कष्ट पाते देखकर भी उसकी सहायता नही करते तो इससे आपकी कृपणता ही प्रकट होती है। धन का सदुपयोग करने मे हृदय की उदारता होना आवश्यक है। हृदय की उदारता के अभाव मे धन का सद्व्यय नही हो सकता। धन तो व्यवहार का साधन मात्र है। वह साध्य नही है। यह बात सब को सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए। धन के प्रति जो मोह है उसका त्याग करने मे ही कल्याण है। 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' अर्थात् धन प्रमादी पुरुष की रक्षा नही कर सकता। शास्त्र के इस कथन को भलीभाति समझ लेने वाला धन को कदापि साध्य नही समझेगा। वह धन के प्रति ममत्व का भाव भी नही रखेगा। धन के प्रति इस प्रकार निर्मल बनने वाला भाग्यवान् पुरुष ही सयम के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

धन की भाति शरीर को भी साधन ही समझना चाहिए। शरीर को आप अपना मानते है, मगर क्या हमेशा के लिए यह आपका है? अगर नही, तो फिर यह आपका कैसे हुआ? श्रीभगवतीसूत्र मे कहा है— कर्मो का बन्ध न अकेले आत्मा से होता है और न अकेले शरीर से ही होता है। अगर अकेले शरीर से कर्म बन्ध होता तो उसका फल आत्मा क्यो भोगता? अगर अकेले आत्मा से बन्ध होता तो

शरीर को फल क्यो भोगना पडता ? आत्मा और शरीर एक दृष्टि से भिन्न–भिन्न हैं और दूसरी दृष्टि से अभिन्न भी हैं। अतएव कर्म दोनो के द्वारा कृत हैं । ऐसी स्थिति में शरीर को साधन समझ कर उसके द्वारा आत्मा का कल्याण करना चाहिए। जो शरीर को साधन समझेगा वही सयम स्वीकार कर उसका फल प्राप्त कर सकेगा जिस वस्तु के प्रति ममता का त्याग कर दिया जाता है, उस वस्तु का सयम करना कहलाता है । अत बाह्य वस्तुओ के प्रति जितने परिमाण मे ममता त्यागोगे, उतने ही परिमाण मे आत्मा का कल्याण साध सकोगे ।

भगवान् ने सयम का फल निष्कर्म अवस्था की प्र प्ति बतलाया है। कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना अपने ही हाथ मे है। सयम किसी भी प्रकार दुःखप्रद नही वरन् आनन्द-प्रद है और परलोक मे भी आनन्ददायक है।



सत्ताईसवां बोल

तप

चारित्र अर्थात् सयम के विषय मे विवेचन किया जा चुका । सयम से अनागत कर्मों का निरोध होता है — आगे आने वाले कर्म रुकते है। मगर जो कर्म आ चुके हैं, उनका क्षय करने के लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है— पूर्व कर्मों को नष्ट करने का साधन तप है ।

लोगों को भावी रोग की इतनो चिन्ता नही होती, जितनी वर्त्तमान रोग की होती है । भावी रोग तो पथ्य, आहार-विहार से भी अटक सकता है परन्तु वर्त्तमान रोग का निवारण करने के लिए औषध का सेवन करना पडता है । कर्मरूप भावी रोग को रोकने के लिए सयम की आवश्यकता है और वर्त्तमान कर्म-रोग को अटकाने के लिए तप की । कर्म रूपी भावी रोग के निवारण के लिए सयम पथ्य के समान है । जो रोगी पथ्य का ध्यान नही रखता और भावी रोग का उपाय नही करता उसका उपचार डाक्टर नही कर सकता । कल्पना कीजिए — डाक्टर रोगी को अमुक चीज न खाने के लिए कहता है, मगर प्रत्युत्तर मे रोगी

कहता है कि उसे खाये बिना मेरा चल ही नही सकता। अब बतलाइए, ऐसे रोगी का उपचार डाक्टर क्या खाक करेगा ?

इसी प्रकार कर्मरूपी रोग को मिटाने के लिए जो व्यक्ति संयमरूपी पथ्य द्वारा, आते हुए कर्मो को नही रोकता वल्कि आस्रव मे ही पडा रहना चाहता है, उस व्यक्ति के लिए वर्त्तमान कर्मों को नष्ट करने की दवा बतलाना व्यर्थ ही है। हा, जो भद्र पुरुष सयमरूपी पथ्य का पालन करता है और इस प्रकार आते कर्मों को अटकाता है, उसके लिए शास्त्रकारो ने सचित कर्मो को नष्ट करने की तपरूपी दवा वतलाई है।

सयम स्वीकार करने वालो को सचित कर्मो को नाश करने के लिए तप करना आवश्यक है। अतएव अब तप के विषय मे प्रश्न किया गया है.–

मूलपाठ

प्रश्न – तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर – तवेण जीवे ! वोदाणं जणयइ।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन् ! तप करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— तप करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व कर्मों का क्षय होता है।

व्याख्यान

तप के फल के विषय मे विचार करने से पहले तप क्या है, इस बात का विचार करना आवश्यक है। तप शब्द 'तप् संतापने' धातु से बना है। जो तपाता है उसे तप कहते हैं। यह तप शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है। मगर कोरे व्युत्पत्ति-अर्थ को जान लेने से वस्तु समझ में नही आ सकती। वास्तविकता समझने के लिए प्रवृत्ति निमित्त को भी समझना चाहिए। 'जो तपाता है वह तप है। इस अर्थ के अनुसार तो अग्नि भी तप कहलाती है, क्योंकि वह भी तपाती है। अतएव यहा देखना है कि तप का प्रवृत्तिनिमत्त क्या है? प्रवृत्तिनिमित्त के लिए शास्त्र मे कहा है – कर्मों का क्षय करने के लिए आत्मा को तपाना तप है। कर्मों के क्षय के अतिरिक्त अन्य किसी भी सासारिक कार्य के लिए किये जाने वाले तप की गणना इस तप मे नही हो सकती। यहा सिर्फ उसी तप से अभिप्राय है जो कर्मों को नष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है।

कर्मों को भस्म करने के लिए आत्मा को तपना तप का वास्तविक अर्थ है, पर समुच्चय रूप से इस प्रकार कह देने पर भी तप का अर्थ समझ मे नही आ सकता। इस कारण शास्त्रकारो ने तप के छह आन्तरिक भेद और छह वाह्य भेद किये हैं। कुल बारह प्रकार का तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग, यह तप के आभ्यान्तर छह भेद हैं तथा अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता, यह छह वाह्य तप के भेद हैं।

आज तप के अर्थ मे प्राय: अनशन ही समझा जाता

है और अनशन तप ही बडा तप समझा जाता है। शास्त्रकारो ने भी तप में अनशन को महत्व का स्थान दिया है। अनशन तप कर्मों को नष्ट करने का भी उपाय है और शारीरिक रोगो का भी उससे नाश होता है। अमेरिका के उपवास-चिकित्सको ने उपवास द्वारा रोगियो के ऐसे-ऐसे रोग मिटाये हैं, जिन्हें डाक्टरो ने असाध्य कह कर छोड दिया था। इससे भगवान् महावीर के धर्म की व्यापकता समझी जा सकती है। साम्प्रदायिक दृष्टि से भले ही कोई अपने को भगवान् महावीर का न माने परन्तु भगवान् के सिद्धान्त की दृष्टि से समस्त ससार ही भगवान् महावीर का है और सारा ससार उन्हें मानता है। अनशन तप को लाभप्रद कौन नही मानता ? सभी लोग और सभी धर्म अनशन को लाभप्रद समझते हैं अनशन तप से आध्यात्मिक लाभ भी होता है और शारीरिक लाभ भी होता है।

अनशन के पश्चात् ऊनोदरी तप है। जो लोग ऊनोदरी तप का सेवन करते रहते है उन्हें अनशन तप करने की प्राय. आवश्यकता ही नही रह जाती। ऊनोदरी का अर्थ है- उदर मे जितनी जगह हो उसमे कम खाना। इस प्रकार ऊनोदरी तप का अनुष्ठान करने से आध्यात्मिक लाभ भी होता है और शारीरिक लाभ भी होता है। मगर लोग तो पेट को मानो 'डिनर बोक्स' समझ बैठे है! वे प्रमाण से अधिक ठूस-ठूस कर पेट भरते है जैसे 'लेटर बोक्स' पत्र डालने के लिए सदैव खुला रहता है उसी प्रकार बहुत-से लोगो का मुँह पेट मे भोजन ठूँसने के लिए खुला रहता है। उन्हे यह विचार ही नही आता कि परिमाण से अधिक भोजन करने से भोजनसामग्री तो बिगडती ही है, साथ ही

शरीर भी बिगडता है। अधिक भोजन करने के लिए लोग तरह तरह की तरकारियां, आचार, चटनी, मुरब्बा वगैरह बनाते है। पहले के लोग चौदह नियमो का चिन्तन इसलिए करते थे और इसीलिए द्रव्यो की मर्यादा करते थे कि परिमाण से अधिक न खाया जाये। अधिक न खाने से अर्थात् कम खाने से ऊनोदरी तप भी हो जाता है और शरीर भी स्वस्थ रहता है।

तीसरा तप वृत्तिसक्षेप है यह तप प्रधानत साधुओ के लिए है, मगर श्रावक यह न सोचे कि यह हमारे लिए नही है। साधुओ की वृत्ति भिक्षा है, श्रावको की वृत्ति भिक्षा नही है। जो श्रावक पडिमाधारी या ससारत्यागी नही है वह भिक्षा नही माग सकता। इसी प्रकार साधुओ के लिए भी कहा गया है कि अगर तुम भलीभाति सयम का पालन कर सकते हो तो तुम्हारी भिक्षावृत्ति है, अन्यथा पौरुषघ्नी भिक्षा है। जिससे सयम का पालन नही होता वह याचना भी नही कर सकता।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहना चाहिए। अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहने वाले को सकट का सामना नही करना पडता। दृढप्रतिज्ञ पुरुष को अनायास ही कही न कही से सहायता मिल जाती है।

नैपोलियन बोनापार्ट के विषय में सुना जाता है कि उसकी माता ने उससे कहा - अमुक कार्य के लिए मुझे इतने धन की आवश्यकता है। नैपोलियन अपनी माता का बहुत आदर करता था मगर उसके पास माता को सतुष्ट करने योग्य धन नही था। उसने सोचा –माता की आज्ञा

पालन करने की प्रतिज्ञा मैं कर चुका हूं और इतना धन मेरे पास नही है। ऐसी स्थिति मे प्राण त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार सकल्प करके वह मरने के लिए रवाना हुआ। रास्ते में उसे एक अपरिचित मनुष्य मिला। उसने नैपोलियन को एक थैली देकर कहा - 'जरा इस थैली को पकडे रहिए, मैं पेशाब करके अभी आता हू।' नैपोलियन ने सोचा—'चलो, मरना तो है ही। मरने से पहले इसका भी कुछ काम कर दूं।' यों सोचकर नैपोलियन ने थैली अपने हाथ में ले ली। वह थैली लिये उस आदमी की प्रतीक्षा करता रहा, मगर थैली वाला न जाने कहा गायब हो गया! वह वापिस लौट कर नही आया। नैपोलियन ने थैली खोली और देखा तो उसमें उतना ही धन था जितना उसकी माता ने उससे मांगा था।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि नैपोलियन को वह धन कहा से मिला? विचार करने से यही विदित होता है कि प्रतिज्ञा के प्रताप से ही वह धन नैपोलियन को प्राप्त हो सका।

ऐसी ही एक बात उदयपुर के महाराणा के विषय में सुनी जाती है। राणा जगल मे रहते थे। उस समय बादशाह फकीर बनकर राणा के अतिथिसत्कार-प्रेम की परीक्षा लेने आया। उसने राणा के पास पहुंच कर कहा—'मुझे चादी की थाली मे, मेवा की खिचडी खाने के लिए दीजिए।' राणा की प्रतिज्ञा थी कि वह अपने पास आये अतिथि को निराश होकर नही जाने देता था। मगर जिस समय बादशाह पहुचा, उस समय राणा के पास मुट्ठी भर अन्न का

भी ठिकाना नही था । ऐसी स्थिति मे वह चादी के थाल मे मेवा की खिचडी कहा से खिलाते ? राणा ने बादशाह को पहचान लिया । मगर राणा ने विचार किया - 'यह फकीर बनकर आया है और मेरा महमान बना है । इसका सत्कार करना मेरा फर्ज है । लेकिन सत्कार किस प्रकार किया जाये ? आज मेरी प्रतिज्ञा भग होने जा रही है । प्रतिज्ञा भग होने की अपेक्षा तो मर जाना कही बेहतर है ।'

इस प्रकार सोच-विचार कर राणा ने फकीर से कहा - 'आइए, बैठिये ।' फकीर को बिठला कर आप पीछे के भाग से मर जाने के लिए जगल की ओर चल दिया । रास्ते मे राणा को एक मनुष्य मिला । वह बैल पर माल लादे जा रहा था । उसने कहा - 'भाई, मुझे शौच जाना है । थोडी देर इस बैल को पकड रखो न ? मैं अभी लौट आता हू ।' राणा ने सोचा—मरना तो है ही, इससे पहले इसका काम कर दिया जाये तो अच्छा ही है । इस प्रकार विचार कर राणा ने बैल को पकड लिया । वह मनुष्य बैल को पकडा कर चला गया और ऐसा गया कि बहुत देर तक भी वापिस नही लौटा । राणा खडे-खड़े निराश हो गये । सोचा देखूं इस पर क्या माल लदा हुआ है ? राणा ने देखा तो उन्हे विस्मय हुआ । उस पर चादी की थालियाँ और मेवा लदा था । राणा नें वह सब सामान लाकर फकीर का अतिथि-सत्कार किया ।

तात्पर्य यह है कि जो दृढप्रतिज्ञ होता है उसे किसी न किसी प्रकार से अनायास सहायता मिल जाती है । साधुओ को भी अपनी सयम पालने की प्रतिज्ञा पर दृढ रहना

च हिए । मयम पालन के साथ हो भिक्षावृत्ति स्वीकार करना उचित है ।

श्रावको को भी वृत्तिसंक्षेप तप का पालन करना चाहिए । उन्हे अपनी वृति मे अधर्म न पैठने देने का सतत ध्यान रखना चाहिए और प्रतिज्ञा पर दृढ रहना चाहिए । ऐसा करने से कार्य भी सफल होगा और सकटो से भी वचाव होगा । इसी प्रकार अन्य तपो का स्वरूप शास्त्र के अनुसार समझ कर यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करना च हिए ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तपो मे अनशन तप प्रधान है चाहे अनशन तप हो चाहे ऊनोदरी हो, वह कर्मो को नष्ट करने के लिए ही होना चाहिए । आजकल अनशन रोग नष्ट करने का भी एक स.धन माना जाता है। इस प्रकार अनशन भले ही व्यावहारिक तप कहलाएगा पर ऐसे अनशन की गणना तप मे नही हो सकती । वही अनशन तप मे गिना जा सकता है जो कर्म नष्ट करने के उद्देश्य से किया गया हो ।

पहले वतलाया गया था कि ऊनोदरी तप किया जाये तो अनशन करने को आवश्यकता ही न रहे । इसका अर्थ यह नही कि ऊनोदरी करने वाले को अनशन तप करना ही नही चाहिए । यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई थी कि रोग नष्ट करने के लिए जो ऊनोदरी करता है उसे अनशन करने की आवश्यकता हो नही रहती । कर्मों को नष्ट करने के उद्देश्य से तो ऊनोदरी तप करने वाला अगर अनशन तप करता है तो और भी अच्छी बात है ।

जिस तप से मन, वचन और काय की शुद्धि होती

है, वही तप श्रेष्ठ है । मन, वचन और काय की शुद्धि करने वाला तप ही वास्तविक तप है । कितनेक तपस्वी अधिक क्रोधी होते है । मगर जो प्रचण्ड क्रोध करता है, कहा जा सकता है कि उसमें अभी तक तप नही है । तप मे क्रोध को स्थान नही हो सकता । जिस तप मे क्रोध को स्थान नही है, वही तप वास्तविक है ।

जैनशास्त्र अनशन तप को महत्वपूर्ण स्थान देता है। महाभारत मे भी अनशन तप की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है । कहा है—

तपो न अनशनात् परम् ।

अर्थात्—अनशन से श्रेष्ठ और कोई तप नही है ।

तप आत्मा को सब पापो से अलग रखता है । जो तप करता हैं वह अहिसा का भी पालन करता है, सत्य का भी पालन करता है, अदत्तादानत्याग का भी पालन करता है और वही ब्रह्मचर्य आदि का भी पालन करता है। ब्रह्मचर्य पालने के लिए मानसिक वृत्तियो को वश करने की आवश्यकता हैं मन की वृत्तियाँ अन्य उपायो से कदाचित् वश में न भी हो, परन्तु अनशन तप से अवश्य वश मे हो जाती है । गीता मे कहा है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज्य रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्त्तते ।।

अर्थात्—अनशन करने से विषय की वासना ही नष्ट हो जाती है और वासना के नष्ट हो जाने पर अब्रह्मचर्य या अन्य पापो की भावना ही किस प्रकार टिकी रह सकती है।

तप करने वाले की वाणी पवित्र और प्रिय होती है। और जो प्रिय, पथ्य और सत्य बोलता है उसी का तप वास्तव मे तप है। असत्य या कटुक वाणी कहने का तपस्वी को अधिकार नही है। तपस्वी सत्य और प्रिय वाणी ही बोल सकता है। तपस्वी को भूल कर भी ऐसे वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए जिससे दूसरो का दुख या भय उत्पन्न हो। तपस्वी तो भयभीत का भी अपनी अमृतमयी वाणी द्वारा निर्भय बना देता है। जब सयति राजा भयभीत हो गया था तब गर्दभालि मुनि ने उसे आश्वासन देते हुए कहा था –'पृथ्वीपति ! तू निभय हो। भय मत कर।' वह मुनि तपोधन थे, ऐसा शास्त्र का उल्लेख है। तपोधन दूसरो को निर्भय बनाता है और अपनी वाणी द्वारा किसी को भी भय नही पहुचाता।

भयभीत व्यक्ति को निर्भय बनाते समय तपोधन मुनि भयभीत व्यक्ति के अपराधो की ओर नही देखते। उनका दृष्टिकोण भयभीत को निर्भय बनाना ही होता है। जो पुरुष तपस्वी को गालियाँ देता है या मारपीट करता है, उसे भी तपस्वी कटुक वचन कहकर भयभीत नही करता, प्रत्युत उसे अभयदान देकर निर्भय बनाता है। तपस्वी दूसरो द्वारा दिये हुए कष्टो को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता है मगर सामर्थ्य होने पर भी दूसरो को भयभीत नही करता। यही तपस्वी की बडी विशेषता है। गजसुकुमार मुनि मे क्या शक्ति नही थी ? फिर भी उन्होने मस्तक पर धधकते हुए अगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण को वचन से भी भयभीत नही किया ! बल्कि उसे परम सहायक समझ कर अभयदान दिया। इतना ही नही, गजसुकुमार के गुरु भगवान् नेमिनाथ

ने श्रीकृष्ण से भी यही कहा था कि—हे कृष्ण! उस पुरुष पर क्रोध मत करो। उसने तो गजसुकुमार मुनि को सहायता दी है। यद्यपि सोमल ब्राह्मण ने उनके शिष्य के माथे पर दहकते हुए अगारे रखे थे, फिर भी भगवान् ने उस पर क्रोध नही किया और श्रीकृष्ण को भी क्रोध करने से रोका। इस प्रकार तपस्वी किसी को भयभीत नही करते और जो भयभीत होते हैं, उन्हे अपनी अमृतवाणी द्वारा आश्वासन देकर निर्भय बनाते है।

कहने का आशय यह है कि तपस्वी की वाणी में शुद्धि और पवित्रता होनी चाहिए। इतना ही नही, वरन् उसके मन मे भी शुद्धि और पवित्रता होना आवश्यक है। ऐसा नही होना चाहिए कि प्रकट मे वाणी द्वारा कुछ और कहा जाये तथा मन मे दुर्भावना रखी जाये। जो तपस्वी अपने मन और वचन में एकता नही रखता उसका तप प्रशस्त नही है। सच्चा तप तो वही है जिसके द्वारा मन शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल वन जाता है। मन मे जब रजोगुण या तमोगुण होता है तब मन निर्मल नही रह सकता। जिसका मन रजोगुण या तमोगुण से अतीत हो जाये अथवा त्रिगुणातीत हो जाये तो समझना चाहिए कि वह सच्चा तपस्वी है और उसका मन निर्मल है। जब तपस्वी का मन त्रिगुणातीत होकर निर्मल हो जाता है तभी तपस्वी का मन फलता है अर्थात् तप का फल व्यवदान प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है और अपने इस कार्य मे वह राजा-रक का भेद नही रखता, अपना सौम्य प्रकाश सभी को समान रूप से प्रदान करता है, उसी प्रकार जो महात्मा मन मे किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का भेद नही रखता—

सभी को शान्ति पहुंचाता है, वही कर्मों का नाश कर के मुक्त हो सकता है। इस विषय मे गीता मे कहा है—

> मन प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहम् ।
> भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

तप मानसिक, वाचिक और कायिक के भेद से तीन प्रकार का है। तीनो प्रकार से तप करने वाले का ही तप परिपूर्ण कहलाता है। पूर्ण तपस्वी का मन प्रसन्न और शात रहता है।

किसी धन के अभिलाषी को अनायास ही धन मिल जाये तो वह कितना प्रसन्न होता है ? धन के अभिलाषी पुरुष के लिए जो धन आनन्ददायक है वही धन साधुओ के लिए हानिकर है । चोर का भय प्रायः धनिको को होता है। राजा धनिको को ही अधिक सताता है पर तपस्वियों को किसी का भय नही होता। इस प्रकार धन कोई उत्तम वस्तु नही है, फिर भी गृहस्थों को धन रखना ही पडा है, क्योंकि धन के बिना ससार-व्यवहार नही चलता । जैसे ससार-व्यवहार के लिए धन का होना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार साधुओ के लिए तप का होना अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थों का धन रुपया-पैसा है और साधुओ का धन तप है। साधुओ के लिए शास्त्र मे कहा है-'अणगारे तवो-धणे।' अर्थात् साधु तपोधनी है। जो मुनि तपोधनी होता है, उसका मन गगा के जल के समान निर्मल होता है। गगाजल मे लोग गदगी डालते हैं तो गगा उस गदगी को भी साफ कर देती है। इसी प्रकार तपोधनी मुनि गदे मनुष्यो को वन्दे अर्थात् परमात्मा के भक्त बना देते है । तपोधनी

का प्रशस्त मुख देखकर वैरी भी अपना वैर भूल जाता है। तपोधनी का मुख शात, मन प्रसन्न और वचन मधुर होता है । तपस्वी की मुखमुद्रा पर शाति और सौम्यता का भाव टपकता रहता है । यह सौम्य भाव देखने मात्र से तपस्वी का तपस्तेज प्रतीत हो जाता है। तपस्वियो की प्रशांत मुख-मुद्रा से ही विदित हो जाता है कि इन महात्मा की तप-श्चरण आदि गुणसम्पत्ति कितनी है ! तपस्वियो की तप समृद्धि किस प्रकार खयाल मे आ जाती है, इस बात का वर्णन श्री उत्तराध्ययनसूत्र के बीसवें अध्ययन मे किया गया है । अनाथी मुनि को देखकर राजा श्रेणिक कहने लगा— अहो ! इन मुनि मे कैसी क्षमा है । कैसा इन्द्रियनिग्रह है ! मुनि कितने सौम्य है ! इनका कैसा तपस्तेज है ।

राजा ने अनाथी मुनि की क्षमा या तप साक्षात् नही देखा था । फिर भी उनकी मुखमुद्रा पर से ही अनुमान कर लिया था कि यह मुनि क्षमासागर और तपस्वी हैं । तपस्वी का मुख सदैव सौम्य रहता है ।

तपस्वी महात्मा या तो स्वाध्याय मे या परमात्मा के ध्यान मे लीन रहते हैं अथवा मौन का सेवन करते है। वे अधिक नही बोलते और जब बोलते है तो तप के लिए ही बोलते हैं अर्थात् दूसरो को निर्भय बनाने के लिए ही बोलते है । गर्दभालि मुनि ध्यान-मौन मे थे, परन्तु सयति राजा को भयभीत देखकर उसे निर्भय बनाने के लिए ही वह बोले थे । इस प्रकार तपस्वी मन की गति को आत्मा का निग्रह करने की ओर झुकाते है। वे अन्य कर्मों में मन का उपयोग नही करते । तपस्वियो के भाव उज्ज्वल होते हैं, मलीन नही । तात्पर्य यह है कि जिस तप द्वारा मान-

सिक शुद्धि हो वही सच्चा तप है । कर्म की निर्जरा करने के लिए अर्थात् व्यवदान फल प्राप्त करने के लिए जीवन मे तप को स्थान दो तो कल्याण होगा ।

साधुओ के लिए शास्त्र में कहा है—

संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरइ ।

अर्थात्—जो तप-सयम द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचरता है वही वास्तव में साधु है । ऐसा तपस्वी और सयमी साधु अपना और पर का कल्याण साधन कर सकता है ।

पहले बतलाया जा चुका है कि जैनशास्त्र क्रियात्मक धर्म की प्ररूपणा करता है । इस प्रश्न से भी यह बात सिद्ध होती है। अतएव जो साधु साध्वी, श्रावक या श्राविका अपने को भगवान् के शासन का अनुयायी मानता हो, उसे तप और सयम की आराधना करनी चाहिए । तप और सयम से ही आत्मा का कल्याण होता है । अतः मन, वचन और काय से तप एव सयम को अपने जीवन में प्रत्येक को स्थान देना चाहिए । ऐसा किये बिना आत्म-कल्याण नही होता ।

कितनेक लोग दूसरे को कष्ट देने के लिए या अपना कोई स्वार्थ साधने के लिए भी तप करते हैं, मगर ऐसा तप इस तप मे नही गिना जा सकता । यहा जिस तप का वर्णन किया गया है, वह कर्मों का क्षय करने के लिए ही है । वास्तव मे सच्चा तप वही है जो दूसरो को कष्ट देने के लिए न किया गया हो, सिर्फ कर्मो की निर्जरा के उद्देश्य से किया गया हो ।

अट्ठाईसवां बोल

व्यवदान

सम्यक्त्व मे पराक्रम करने के लिए भगवान् ने ७३ बोल कहे है । उनमे से २७ बोलो का विवेचन विस्तार-पूर्वक किया जा चुका है । २७ वें बोल मे तप के विषय मे प्रश्न किया गया था कि—'तवेण भते ! जीवे कि जणयइ ?' अर्थात् हे भगवन् ! तपश्चर्या से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फर्माया—'तवेणं जीवे वोदाण जणयइ ।' अर्थात्—तपश्चर्या करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व सचित कर्मो का क्षय होता है ।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न कर रहे हैं कि पूर्व सचित कर्मो का क्षय करने से, व्यवदान से-जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न वोदाणेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— वोदाणेण अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥२८॥

शब्दार्थ

प्रश्न व्यवदान से, भगवन् ! जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—व्यवदान (पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से) जीवात्मा सब प्रकार की क्रिया से रहित होता है और फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होकर सब दुःखों का अन्त करता है।

विवेचन

व्यवदान, तप का साक्षात् और तात्कालिक फल है। फल दो प्रकार का होता है। एक तो अनन्तर अर्थात् तत्काल मिलने वाला फल और दूसरा पारम्परिक फल अर्थात् परम्परा से मिलने वाला। व्यवदान तप का तत्काल मिलने वाला फल है। कार्य समाप्त होते ही जो फल मिलता है वह आनन्तर्य फल कहलाता है और तप का आनन्तर्य फल व्यवदान है। इस प्रकार पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होना तप का तत्काल मिलने वाला फल है।

तप का तात्कालिक फल व्यवदान अर्थात् संचित कर्मों का क्षय होना है, परन्तु पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से जीवात्मा को लाभ क्या होता है ? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फर्माया— व्यवदान करने से जीव अक्रिय अवस्था प्राप्त करता है।

जहां कोई भी क्रिया करने का निमित्त नही रहता वह अक्रिय दशा कहलाती है। यह अक्रिय अवस्था प्राप्त

हो जाना व्यवदान का फल है ।

शास्त्र मे शुक्लध्यान के चार भेद बतलाये गए हैं। उनमें चौथा भेद अक्रिय अवस्था है । यह अक्रिय अवस्था मोक्षप्राप्ति के समय ही प्राप्त होती है । अक्रिय अवस्था प्राप्त करन से आत्मा मन, वचन, काय के योग का निरोध करके शैल-पर्वत की भाति अडोलस्थिर अकप बन जाता है। शास्त्र मे कहा है आत्मा मे जब तक कर्मों का प्रभाव बना रहता है तब तक आत्मा स्थिर नही हो सकता । कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तभी आत्मा स्थिर और शात बन सकता है।

समुद्र का पानी स्वभाव से स्थिर है, परन्तु पवन की प्रेरणा के कारण चचल बन जाता है । पानी का स्वभाव तो स्थिर रहने का है, परन्तु पानी से भरा बर्तन आग पर रखने से, आग की प्रेरणा पाकर पानी उबलने लगता है। एँजिन मे आग की प्रेरणा से ही पानी के द्वारा भाप उत्पन्न होती है । उसी भाप के कारण एजिन दूसरे डब्बो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर झपाटे के साथ ले जाता है और छोड आता है । इस प्रकार रेलगाडी का सारा व्यवहार प्रेरणा से ही चल रहा है ।

इसी प्रकार कर्म की प्रेरणा से आत्मा अपनी गाडी चौरासी लाख जीवयोनियो मे दौडाता फिरता है । अब तो आत्मा को भव-भ्रमण की यह दौडधाम बन्द करके अपने आपको 'स्थिर' करना चाहिए । आत्मा को स्थिर करने के लिए ही आत्मा को कर्म-रहित अक्रिय होने की आवश्यकता है ।

जैसे पानी का स्वभाव उबलने का नही है, फिर भी

आग की प्रेरणा से ही वह उबलता है, और यह प्रेरणा बाहरी होने के कारण रोकी भी जा सकती है। इसी प्रकार आत्मा को भवभ्रमण और अस्थिर रखने की प्रेरणा करने वाले कर्म हैं। कर्मों की यह प्रेरणा बाहरी और बनावटी होने के कारण रोकी जा सकती है। इसी कारण भगवान् ने फर्माया है कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय (व्यवदान) करने से जीवात्मा अक्रिय दशा प्राप्त करता है और फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शाँत हो जाता है।

भगवान् का यह कथन इतना सरल और सत्य है कि सभी की समझ मे आ सकता है। इस सत्य कथन मे किसी को सदेह करने की गुंजाइश नही है। शास्त्र का कथन है कि आत्मा मे जो कुछ भी अस्थिरता पाई जाती है वह योग की चपलता की बदौलत ही है। योग का निरोध करने से आत्मा की अस्थिरता मिट जाएगी और आत्मा 'स्थिर' तथा 'शात' हो जाएगा।

भगवान् ने तो सब जीवात्माओ को उद्देश्य करके आत्मा को स्थिर बनाने का उपदेश दिया है, परन्तु लोगो का आत्मा तो घुडदौड के घोडे की तरह दौडधूप ही करना चाहता है। ऐसी दशा मे तुम्हारे आत्मा को शाति किस प्रकार मिल सकती है? घुडदौड के घोडे चाहे जितनी दौड लगावे, आखिर उन्हें शाति तो तब ही मिल सकती है, जब वे दौड बन्द करके स्थिर होते हैं। हमेशा दौड़ते रहना न ठीक है और न शक्य ही है।

इसी प्रकार आत्मा इस ससार मे चाहे जितनी दौड-धूप करे, मगर आखिर वह जब स्थिर होगा तभी उसे सच्ची

शाति मिलेगी । जहाँ तक आत्मा स्थिर नही होता तहाँ तक आत्मा को शाँति मिलना सभव नही । व्यवहारदृष्टि से विचार करने पर भी यह व त पुष्ट होती है। तुम कार्य-वश बाजार जाकर च हे जितनी दौडधाम करो, मगर घर आकर स्थिर और शात हुए बिना व्यावहारिक शाँति भी नही मिल सकती । यही बात दृष्टि मे रखकर बुद्धिमान् पुरुषो ने कहा है कि मनुष्य मे न तो ऐसा आलस्य ही होना चाहिए कि वह कोई काम ही पूरा न कर सके और न ऐसी चचलता ही होनी चाहिए कि जिसके कारण शान्ति ही नसीब न हो सके । मनुष्य को मध्यम मार्ग पर चलने की आवश्यकता है ।

भगव न् ने योगनिरोध करने की जो बात कही है, वह चौदहवें गुणस्थान की है, और अपने इस काल मे ऊचे से ऊँचे छठे व सातवे गुणस्थान तक ही पहुच सकते है । अतएव हमे दौडने की ऐसी उतावली नही करनी चाहिए कि रास्ते मे कही ठोकर खाकर गिर पडे, और ऐसी स्थिति हो जाय कि न इधर के रहे न उधर के रहे ।

शास्त्र के इस कथन को अमल मे किस प्रकार लाया जाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह बात तो हमे स्मरण मे रखनी चाहिए कि चौदहवे गुणस्थान मे पहुचने से अक्रिय दशा प्राप्त होती है। अतएव एकदम ऐसा प्रयत्न नही करना चाहिए कि चौदहवें गुणस्थान की स्थिति प्राप्त करने के बदले और नीचे गिरने की नौबत आ जाए ।

किसी भी ऊँचे स्थान पर चढने के लिए सीढी-सीढी चढ़ना पडता है। अगर कोई मनुष्य एक साथ, छलाग मार

कर दो–चार सीढियां कूदना चाहता है तो उसके नीचे पडने की अधिक सभावना रहती है । इसलिए हमे ऐसी छलाग नही मारनी चाहिए कि इस समय हम जिस गुणस्थान मे हैं, उसमे भी नीचे पड जाए ! हम लोगो को तो आत्मा का विकास करना है । अगर हम आलसी होकर बैठे रहेगे तो आत्मविकास कैसे कर सकेंगे ? साथ ही एकदम छलॉग मारकर ऊपर चढने का प्रयत्न करगे तो नीचे गिरने का भय है । अतएव मध्यम माग का अवलम्बन करके क्रमपूर्वक आत्मविकास करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है ।

आजकल धार्मिक सुधार करने के लिए मध्यम श्रेणी के लोगो की अत्यन्त आवश्यकता है । हम साधुओ को पूर्व-काल के महात्माओ ने जो जवाबदारी सौपी है, उसे एक किनारे रख देना और जो यम–नियम बताये हैं, उन्हे छोड बैठना हमारे-साधुओ के लिए उचित नही है ।

दूसरी तरफ, तुम लोग जैसा जीवनव्यवहार चला रहे हो, वैसा ही चालू रखोगे तो धर्मोन्नति होना कठिन है । पहले के जमाने मे जो कुछ होता था वह उस जमाने के मुताबिक होता था । पर अब ऐसा जमाना आ गया है कि हमे समय नुसार धर्म के प्रचार करने का प्रयत्न करने की खास आवश्यकता है । पहले जमाने मे आजकल की तरह धार्मिक पाठशालाए नही थी । उस समय साधु, श्रावको को प्रतिक्रमण आदि का धार्मिक शिक्षण देते थे । इसके सिवाय उस समय आजकल की भाति व्यावहारिक शिक्षा भी नही दी जाती थी । जब लौकिक शिक्षा बढ गई है तो धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता भी बढ गई है । परन्तु तुम लोग तो ऐसे सब

काम साधुओ की मार्फत ही कराना चाहते हो और कहते हो कि साधु यह काम नही करते तो समाज का खाते क्यो हैं ? खाने के बदले वे हमारा क्या काम करते है ? ऐसा कहना तुम्हारी भूल है । साधु तुम्हारे भरोसे नही है । वे अपने सयम का और अपने पूर्वजो द्वारा बाधे हुए नियमो का पालन करते हुए चाहे जहा से अन्न-पानी ला सकते है । इसलिए तुम साधुओ के सिर ही सारी जबावदारी मत मढो। विचार करो कि यह उत्तरदायित्व तुम्हारा भी है । तुम हमारे माथे उत्तरदायित्व मढते हो मगर हम लोग कहा-कहा पहुचे ? आत्मसुधार और धर्मसुधार के लिए तो साधु यथाशक्य प्रयत्न करते ही है । परन्तु तुम लोग जब विदेश जाते हो तो क्या अपने साथ अपना धर्म भी वहा ले जाते हो ? कहा जा सकता है कि ऐसा करने में धार्मिक बाधा आती है । इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने वाला भूल करता है । चम्पा का पालित श्रावक समुद्रयात्रा करके पिहुड नगर गया था । उसकी इस समुद्रयात्रा मे क्या कुछ शास्त्रीय विरोधबाधा थी ? आज शास्त्र का रहस्य पूरी तरह समझने का प्रयत्न नही किया जाता, शास्त्र का सिर्फ दुरुपयोग किया जाता है ।

जैनशास्त्र मे ऐसी कोई सकीर्णता नही है। इतना ही नही, ससार मे जो सकीर्णता फैली हुई थी जैनशास्त्रो ने उसे हटाया है और बताया है कि समुद्रयात्रा करना ऐसा कोई भयकर पाप नही है । जिस पालित श्रावक ने समुद्र यात्रा की थी, उसके विषय मे शास्त्र मे कहा गया है कि पालित श्रावक श्रावको मे पडित और जैनशास्त्रो मे कुशल था उस पालित श्रावक की समुद्रयात्रा मे जो धर्म बाधक

नही बना, वही धर्म आज बाधक कैसे हो सकता है ? अतएव धर्म समुद्रयात्रा मे बाधक है, ऐसा बहाना न करके जहां कही तुम जाओ, अपने धर्म को भी साथ लेते जाओ। सदैव ध्यान रखो कि हमारा धर्म हमारे साथ है और हमारी यात्रा का ध्येय धर्म का प्रचार करना है । तुम यही समझो कि हम अपने धर्म का प्रचार करने के लिए ही विदेश मे आये हैं। क्या इस प्रकार धर्म का प्रचार करते रहने से तुम्हारे किसी व्यावहारिक काम मे बाधा खडी होती है ? आर्यों के विषय में कहा जाता है कि आर्य लोग जब भारत में आये थे तब वे अपना धर्म और अपनी सस्कृति भी साथ लाए थे। जब आर्य लोग अपना धर्म और अपनी सस्कृति साथ लाए थे तो फिर तुम लोग अपने जैनधर्म को और अपनी जैनसस्कृति को विदेश मे साथ क्यो नही ले जा सकते ? तात्पर्य यह है कि धर्मप्रचार के विषय मे निष्क्रिय हो बैठने से काम नही चल सकता । श्रावको को भी अपना उचित भाग अदा करना चाहिए ।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि व्यवदान से अर्थात् पूर्वसचित कर्मों का क्षय करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है – हे गौतम ! प्रथम तो पूर्वसचित कर्मों का क्षय होना ही अत्यन्त कठिन है, परन्तु जब कर्मों का क्षय हो जाता है तो जीवात्मा को अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाती है । यह अक्रिय अवस्था प्राप्त होने से आत्मा की अस्थिरता दूर हो जाती है और पूर्ण शांति प्राप्त होती है ।

भगवान् के इस उत्तर से यह बात निश्चित हो जाती है कि ससार मे जितनी चचलता प्रतीत होती है, वह सब कर्मो की उपाधि के कारण ही है । यद्यपि चचलता के कारण ससार है और ससार के कारण चचलता है, तथापि प्रत्येक आत्महितैषी व्यक्ति को ससार के मायाजाल से मुक्त होने का और आत्मा को स्थिर करके शाँति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । जन्म–मरण करते–करते आत्मा ने अनन्तकाल व्यतीत किया है, फिर भी उसे शाति नही मिली । वास्तव मे जब तक आत्मा मे चचलता है, स्थिरता नही आई है, तब तक आत्मशाति नही मिल सकती । आत्म-शाति प्राप्त करने के लिए आत्मा को स्थिर करना चाहिए ।

जो आत्मा ससार मे ही भ्रमण करना चाहता है उसके लिए तो यह धर्मोपदेश, भैस के आगे बीन बजाने के समान है, परन्तु जो जीवात्मा ससार की आधि, व्याधि और उपाधि से व्याकुल होकर ससार के मायाजाल से मुक्त होने की अभिलापा रखते हैं, उनके लिए तो यह शाति का मार्ग है । आत्मा को स्थिर करना ही जन्म–मरण से मुक्त होने का और आत्मशाति प्राप्त करने का राजमार्ग है ।

हमारे सामने दो मार्ग है ससारमार्ग और मोक्षमार्ग । इन दो मार्गों मे से आत्मा जिस मार्ग पर जाना चाहे, जा सकता है । ससारमार्ग पर जाने से भवभ्रमण बढता है और मोक्षमार्ग पर चलने से भवभ्रमण रुकता है । ससारमार्ग बधन का कारण है और मोक्षमार्ग मुक्ति का कारण है । शास्त्रकार तो प्रत्येक जीवात्मा को मोक्ष का ही मार्ग बत-लाते है, क्योकि मोक्ष के मार्ग पर चलने से ही आत्मा

सिद्ध, वुद्ध और मुक्त होकर शान्त बनता है और सब दु खो का अन्त करता है ।

सिद्ध, वुद्ध और मुक्त होने के लिए जोवात्मा को सर्व-प्रथम स्थिरात्मा बनने का आवश्यकता है। स्थिर हुए बिना आत्मा को शाति नही मिल सकती । वास्तव मे आत्मा स्वभाव से तो स्थिर हो है, परन्तु कर्मरूपी अग्नि की प्रेरणा मे वह अस्थिर बन गया है । कभी उच्च कर्मों का उदय होता है तो कभी-कभी नीच कर्मो का । अर्थात् कभी पुण्य का और कभ पाप का उदय हाता रहता है । इसी कारण आत्मा अस्थिर बन जाता है । आत्मा को अस्थिर और अशात वनाना कर्मों का मुख्य काम है । पुण्य और पाप दानो कर्मों के ही विकार (फल) हैं। पुण्य, कर्मो का शुभ परिणाम है और पाप, अशुभ कर्मो का परिणाम है । इस प्रकार पुण्य-पाप दोनो कर्मों की ही सतान हैं । इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि अ त्मा को पुण्य और पाप रूप दोनो प्रकार के कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

पानी मे चाहे शक्कर डाली जाये, चाहे कोई कटुक चीज डाली जाये, पानी तो दोनो के डालने से विकृत होगा ही । यह वात दूसरी है कि शक्कर डालने से पानी मे जो विकृति आती है वह शुभ विकृति है और कटुक चीज के सयोग से होने वाली विकृति अशुभ है । परन्तु यह दोनो वस्तुए विकार-जनक होने के कारण उनसे पानी तो अशुद्ध हुआ ही । पानी मे जब वाहर की कोई भी वस्तु न मिलाई जाये, तभी पानी का मूल स्वरूप देखा जा सकता है। इसी प्रकार पुण्यकर्म शुभ दशा है और पापकर्म अशुभ दशा है ।

परन्तु इन दोनो प्रकार के शुभाशुभ कर्मों द्वारा आत्मा तो विकृत होता ही है । शुभाशुभ कर्मों की इस विकृति से आत्मा जब छुटकारा पाता है तभी वह अपने असली स्वरूप मे स्थिर होता है । इसी कारण शास्त्रकारो ने पुण्य और पाप दोनो प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को अन्त में त्याज्य बतलाया है ।

जीवात्मा मे जब तक बालभाव है—अज्ञान दशा है-तब तक वह शुभ कर्मों को शुद्ध समझता और उसी में आनन्द मानता है । परन्तु कर्म चाहे वह शुभ ही क्यो न हो, आत्मा को तो अशुद्ध ही बनाता है । जो लोग अपने आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं उन्हे तो शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मो का त्याग करना पडेगा और आत्मा को कर्मरहित बनाना पडेगा ।

व्यवदान का फल बतलाते हुए भगवान् ने शुक्लध्यान की चौथी अवस्था-अक्रिय दशा की बात कही है । अक्रिय दशा का अनुभव मोक्ष जाने के समय ही होता है । मैं अब तक शुक्लध्यान की चौथी अक्रिय अवस्था का अनुभव नहीं कर सका हू, परन्तु जो महापुरुष तेरहवें गुणस्थान मे पहुच कर चौदहवे गुणस्थान की स्थिति प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उनका कहना है कि अक्रिय दशा प्राप्त होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है । चौदहवे गुणस्थान की स्थिति, 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पाच ह्रस्व स्वरो के उच्चारण मे जितना समय लगता है उतने समय की है । इतने अल्प समय में आत्मा अक्रिय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । यद्यपि मोक्ष जाने मे आत्मा को इतना ही समय लगता है, तथापि मोक्ष-

प्राप्ति के लिए अभ्यास-प्रयत्न पुरुषार्थ तो पहले से ही करना पड़ता है। जैसे निशाना ताकने मे अधिक समय नही लगता, मगर निशाना ताकने का अभ्यास करने मे बहुत समय लगता है और लम्बे समय तक अभ्यास करने के बाद ही ठीक निशाना साधा जा सकता है इसी प्रकार मोक्ष ता थोडे ही समय में हो जाता है परन्तु उसके लिए पहले अधिक अभ्यास करना आवश्यक है। राधावेध करने मे बहुत समय नही लगता है। इसी प्रकार मोक्ष तो पाच लघु अक्षर उच्चारण करने जितने काल मे हो जाता है परन्तु इस लक्ष्य को साधने के लिए पहले बहुत समय अभ्यास करना पडता है। शास्त्रकार मोक्षरूपी लक्ष्य को साधने का ही उपदेश देते हैं। इस उपदेश का ध्यान रखते हुए मोक्ष साधने का अभ्यास करते रहो। अगर अभ्यास और प्रयत्न ठीक तरह किया जायेगा तो कार्य सिद्ध होते देर नही लगेगी।

प्रत्येक लक्ष्य को साधने का अभ्यास या प्रयत्न उपयुक्त साधनो द्वारा ही करना चाहिए, विपरीत साधनो द्वारा नही। विपरीत साधनो द्वारा अभ्यास करने से कार्य सिद्ध होने के बजाय बिगड जाता है।

भगवान् कहते हैं - तप का फल व्यवदान है और व्यवदान का फल अक्रिया है। अक्रिया दशा प्राप्त होने पर ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है। अक्रिय दशा को प्राप्त होने पर आत्मा जब सिद्ध हो जाता है और सिद्ध शब्द मे दूसरे सब शब्द गतार्थ हो जाते हैं तो फिर शास्त्रकारो ने 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध', 'मुक्त' आदि शब्दो का प्रयोग किस प्रयोजन से किया है ? ऐसा करने मे उनका

क्या आशय था ? इस बात पर यथामति और यथाशक्ति विचार करना आवश्यक है ।

ससार मे सिद्धि का स्वरूप भिन्न भिन्न दृष्टियो से माना जाता है । कुछ लोग दीप–निर्वाण के समान अर्थात् दीपक बुझ जाने के समान सिद्धि का स्वरूप मानते है । उनका कहना है कि जैसे बुझ जाने के बाद दीपक कुछ भी नही रहता, उसी प्रकार आत्मा सिद्ध होने के बाद कुछ भी नही रहता । परन्तु जैनशास्त्र मे सिद्धि का ऐसा स्वरूप नही स्वीकार किया गया है । अतः दीप निर्वाण के समान सिद्धि का स्वरूप मानने वालो का निषेध करने के लिए ही 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का उपयोग किया है ।*

---

*कुछ दार्शनिको की यह मान्यता है कि सिद्धि अवस्था मे आत्मा के सभी विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते है । आत्मा का अस्तित्व तो रहता है मगर उसकी 'बुद्धि' अर्थात् ज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है । मतलब यह हुआ कि सिद्धि-दशा मे आत्मा पत्थर की तरह जड हो जाता है । 'सिद्धि' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके शास्त्रकारो ने इस भ्रम का भी निवारण कर दिया है ।

आत्मा के विकासक्रम के अनुसार आत्मा पहले 'बुद्ध' होता है और फिर सिद्ध होता है । तेरहवें गुणस्थान में 'बुद्ध' हो ज ता है । मगर 'सिद्ध' नही होता । सिद्धदशा उसके बाद प्राप्त होती है । इस क्रम के अनुसार पहले 'बुद्ध' और फिर 'सिद्ध' कहना चाहिए था, मगर शास्त्रकारो ने पहले 'सिद्ध' और बाद मे 'बुद्ध' कहा है । इसका कारण भी यही है । वैशेषिकदर्शन सिद्ध होने से पहले तो आत्मा को

बुझा हुआ दीपक न अंधकार फैलाता है, न प्रकाश करता है। अगर दीपक की तरह आत्मा भी सिद्ध होने के बाद अस्तित्व मे न रहे और नष्ट हो जाये तो फिर आत्मा की ऐसी सिद्धि किस काम की ? आत्मा सिद्ध होने पर अस्तित्व मे ही न रहे, वरन् दीपनिर्वाण की तरह नष्ट हो जाये, ऐसा मान लिया जाये तो अनेक दोष आते हैं। इन दोषो का परिहार करने के लिए शास्त्र मे 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है कि आत्मा सिद्ध होने पर बुद्ध भी होता है अर्थात् सर्वज्ञानी और सर्वदर्शनी बन जाता है।

यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, उस सिद्धात्मा के लिए क्या करना शेष रह जाता है ? या सिद्ध होने के बाद 'बुद्ध' होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्णज्ञानी होने के बाद 'ही सिद्ध' दशा प्राप्त होती है। परन्तु जैसे अभ्यास करने का

'बुद्ध' (ज्ञानी) मानता है मगर सिद्ध होने के बाद बुद्ध नही मानता। सिद्ध होने पर बोध नष्ट हो जाता है। मगर शास्त्रकार 'सिद्ध' शब्द मे पहले 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करते तो पाठको को सन्देह हो सकता था कि सिद्ध होने से पहले तो बुद्ध भले हो मगर 'सिद्ध' होने के बाद 'बुद्ध' रहना है या नही ? इस शका का समाधान करने के लिए पहले सिद्ध और फिर बुद्ध शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह निकला कि सिद्ध होने के बाद भी आत्मा बुद्ध रहता है।

— सम्पादक।

प्रमाणपत्र मिलने पर ही अभ्यास का महत्व बढता है, उसी प्रकार पूर्णज्ञानी होने का प्रमाणपत्र सिद्धि प्राप्त होने पर मिलता है। जब अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिल जाता है तभी जनसमाज मे अभ्यास की कीमत आकी जाती है। इसी प्रकार सिद्ध होने से पहले पूर्णज्ञान रहता ही है मगर उसका प्रमाणपत्र सिद्धि प्राप्त होना है। शास्त्र मे कहा है कि बुद्ध होने से कोई नवीन ज्ञान नही आ जाता। ज्ञान तो तेरहवे गुणस्थान से ही होता है, परन्तु सिद्ध होने के बाद वह नष्ट नही हो जाता। यह बताने के लिए 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' होने का भी कथन किया गया है।

कुछ लोगो का कहना है कि सिद्ध आत्मा भी ससार मे अवतार धारण करता है—जन्म लेता है। एक बार सिद्ध हो जाने पर वह आत्मा जब संसार मे किसी प्रकार की विपरीतता देखता है तब राग-द्वेष से प्रेरित होकर फिर ससार मे अवतार लेता है। भगवान् महावीर ने जो सिद्धि कही है, वह इस प्रकार की नही है। शास्त्रकार तो स्पष्ट कहते है कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, वह जन्म-मरण से मुक्त भी हो जाता है। यही बात विशेष स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध'-शब्दो के साथ 'मुक्त' शब्द का भी प्रयोग किया है। गीता मे भी कहा है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।

अर्थात्—जहा जाने के बाद पीछे लौटना नही पडता, वही मेरा धाम है।

गीता मे तो ऐसा कहा है, फिर भी उसके अर्थ का खयाल न करके कहा जाता है कि सिद्ध होने के बाद भी

आत्मा जगत् की विपरीतता दूर करने के लिए संसार में जन्म धारण करता है । इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही शास्त्रकारों ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दों के साथ 'मुक्त' शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध हुए आत्मा को संसार में अवतार या जन्म नहीं लेना पड़ता ।

इस कथन पर यह आशंका हो सकती है कि इसी प्रकार जीव सिद्ध होते रहेंगे तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब इस संसार में एक भी जीव बाकी नहीं रहेगा । कुछ लोगों को यह भय लगा है कि संसार कहीं जीवों से एकदम खाली न हो जाये ! इस कारण वे कहते हैं कि जीवात्मा थोड़े समय तक सिद्धिस्थान में रह कर फिर संसार में लौट आता है । मगर यह कल्पना मिथ्या है और भ्रम उत्पन्न करने वाली है । तुम लोग भी शायद यों सोचते होगे कि जीव अगर इसी तरह मुक्त होते रहे और वापस न आये तो कभी न कभी सारा संसार जीवों से शून्य हो जायेगा । परन्तु इस बात पर यदि गहरे उतर कर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हें यह लगे बिना नहीं रहेगा कि यह कल्पना खोटी और भ्रामक है । जिन महात्माओं ने सिद्धि प्राप्त की है और सिद्धि का स्वरूप देखा है–जाना है, उन महात्माओं ने काल को भी देखा और जाना है, उसके बाद ही उन्होंने अपना निर्णय घोषित किया है कि संसार कभी जीवरहित हो ही नहीं सकता । ज्ञानी महात्माओं के इस कथन पर तुम स्वयं भी गहरा विचार करोगे तो इस कथन को समझे बिना नहीं रह सकते और तुम्हारा सारा संदेह मिट जाएगा ।

तुम जरा काल के विषय मे विचार करो। क्या भूत-काल का कही अन्त मालूम होता है ? तिथि, मास, वर्ष वगैरह बहुत बार व्यतीत हो चुके । सब की गणना करो तो भी भूतकाल का अन्त नही आ सकता । उसे अनन्त कहना पडेगा । अपने वर्तमान जीवन का अन्त तो आ जायेगा मगर भविष्यकाल का अन्त नही आ सकता । इस प्रकार जब भूतकाल और भविष्यकाल का अन्त नही तो उन कालो मे होने वाले पदार्थों का अन्त कैसे हो सकता है ? ससार के समस्त काम काल के साथ ही होते है । अतएव ज्ञानी आत्माओ ने भूतकाल और भविष्यकाल को देखकर कहा है कि जीव, काल की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक हैं । अतएव ससार का अन्त नही आ सकता तथा किसी भी काल मे वह जीवो से रहित भी नही हो सकता । यही बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हू —

मान लो किसी कोठरी मे श्रीफल भरे है और दूसरी कोठरी मे खसखस के दाने भरे है। दोनो कोठरिया लम्बाई-चौडाई–ऊचाई मे बराबर है । मगर श्रीफल परिमाण मे बडे होने से, गिनती के लिहाज से, खसखस के दानो की अपेक्षा बहुत थोडे हैं । अब अगर दोनो कोठरियो में, से, क्रमश. एक श्रीफल और एक खसखस का दाना बाहर निकाला जाये तो पहले कौनसी कोठरी खाली होगी ? श्रीफलो की कोठरी का पहले खाली होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार काल श्रीफलो के बराबर है और जीवात्मा खसखस के दानों के बराबर हैं । जब काल का ही अन्त नही तो जीवो का अन्त कैसे आ जाएगा ?

इस प्रश्न के विषय मे पूज्य श्रीलालजी महाराज बहुत वार फर्माया करते थे कि रुपयों का चाहे जितना ऊँचा ढेर करो, क्या आकाश का अभी अन्त आ सकता है ? रुपयो का ढेर करने से आकाश का उतना हिस्सा अवश्य रुकता है, परन्तु उससे आकाश का अन्त नही आ सकता। कारण यह है कि आकाश अनन्त है इसी प्रकार जीवात्मा कितने ही सिद्ध हो, मगर ससार का अन्त नही आ सकता। वह बात श्रद्धागम्य है। तुमने भूतकाल और भविष्य को अनन्त नही जाना है, फिर भी श्रद्धा के कारण ही उन्हे अनन्त कहते हो। तो जिस प्रकार श्रद्धा से काल को अनन्त मानते हो उसी प्रकार श्रद्धा से यह भी मानो कि जीव चाहें जितने सिद्ध हो तो भी ससार जीवरहित नही हो सकता।

भगवान् ने कहा है, जीव जब पूर्वसचित कर्मों का क्षय कर डालता है तब उसे अक्रिय दशा प्राप्त होती है और उसके बाद सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है अर्थात् उपाधिरहित होकर सर्वदुःखो का अन्त करता है। जीव जब उपाधिरहित बन जाता है तब उसे संसार मे वापस लौटने की आवश्यकता ही नही रहती। जैसे दग्ध (जले हुए) बीज मे से अकुर नही फूटता उसी प्रकार जिन्होने उपाधियो का अन्त कर डाला है, उन्हे ससार मे फिर अवतार या जन्मधारण करने की आवश्यकता ही नही रहती।

सिद्धि का ऐसा स्वरूप है। इस स्वरूप को जानकर कोई कहते है कि ऐसी सिद्धि किस काम की ? ऐसा कहने वालो से और क्या कहा जा सकता है ? जो लोग सिद्धि-

स्थान में जाना चाहते हैं, उनके लिए तो भगवान् ने मोक्ष का मार्ग बतलाया ही है पर जो लोग सिद्धि नही चाहते उन्हे मोक्ष का मार्ग बताना वृथा है । आत्मा मे जब तक बालबुद्धि है तब तक आत्मा सुख मे दु ख और दु ख मे सुख मानता है । बालजीव ससार के पदार्थों में सुख मानते है, परन्तु वास्तव मे आत्मा मे जो अनन्त सुख भरा हुआ है, उस सुख की थोड़ी-सी झाकी ही सासारिक पदार्थों मे आती है और इसी कारण सासारिक पदार्थ सुखरूप जान पडते हैं । वास्तव मे पदार्थों मे सुख नही है । सच्चा सुख तो आत्मा मे ही भरा है। पदार्थों मे सुख मानना तो उपाधि है । इस उपाधि से मुक्त होकर आत्मा मे रहे हुए सुख की शोध और उसी का विकास करना चाहिए ।

आत्मा में रहे हुए अनन्त सुख को विकसित करना ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है । ससार की उपाधि से छुटकारा पाने के लिए अक्रिय बनने की परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए । ससार के समस्त दु खो का अन्त अक्रिया से ही होता है और अक्रिय दशा पूर्वसचित कर्मों का नाश करने से प्राप्त होती है । अत प्रत्येक आत्महितैषी को तप द्वारा पूर्वसचित कर्मो का क्षय करके अक्रिय दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

व्यवदान के फल के विषय मे विचार करते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तप द्वारा पूर्वसचित कर्मों का नाश होता है, यह बात सुनिश्चित है, तो फिर व्यवदान का फल पूछने की क्या आवश्यकता थी ?

टीकाकार यह प्रश्न खड़ा करके उसका समाधान करते

हुए कहते हैं—सूत्र की बात गहन है । सूत्र मे किसी जगह अतिदेश द्वारा और किसी जगह साक्षात् रूप से विषय का कथन किया गया है । अर्थात् कोई बात विस्तार से और कोई बात सक्षेप से बतलाई है । ज्ञानीजनो को जहा जैसा उचित प्रतीत हुआ, उन्होने वहा वैसा ही कथन किया है ।

अतिदेश का साधारणतया अर्थ है—गौण बात कहना । अतिदेश द्वारा कही जाने वाली बात गौण होती है और साक्षात् कही जाने वाली मुख्य । उदाहरणार्थ किसी सेठ ने अपने नौकर से दातौन मगवाया । नौकर ने विचार किया—दातौन के साथ पानी भी चाहिए और मुँह पौंछने के लिए तौलिया भी चाहिए । इस प्रकार सेठ ने मगवाया तो दातौन ही था, किन्तु गौण रूप से पानी और तौलिया लाने का भी संकेत था । इस प्रकार मुख्य रूप से और कोई बात हो तथा गौण रूप से दूसरी ही बात का सकेत हो, वह अतिदेश कहलाता है । कदाचित् सेठ नौकर से कहे कि मैंने तो सिर्फ दातौन मगवाया था । पानी और तौलिया कहाँ मगवाया था ? तो उत्तर मे नौकर यही कहेगा - मुख्य रूप से तो आपने दातौन ही मगवाया था मगर गौण रूप से पानी और गमछा भी मगवाया था, क्योकि दातौन के साथ पानी और गमछे की भी जरूरत रहती है ।

इसी प्रकार शास्त्र मे तपश्चर्या का फल पूर्वसचित कर्मों का क्षय अर्थात् व्यवदान बतलाया है और व्यवदान के साथ ही अतिदेश द्वारा अक्रियदशा का भी कथन किया गया है । फिर भी व्यवदान के फल के विषय मे पुन. प्रश्न क्यो किया गया है ? इसका समाधान करते हुए टीकाकार

कहते हैं– शास्त्र मे कही मुख्य रूप मे कोई वात कही गई है और कही गौण रूप मे कही गई है। ऐसा देखा जाता है।

व्यवदान का फल वतलाते हुए अक्रिय तथा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुखो का अन्त होता है, ऐसा कहा गया है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब सिद्ध होना कहा और सिद्धि मे प्रत्येक बात का समावेश हो जाता है तो फिर बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुखो का अन्त करने की बात किस प्रयोजन से कही गई है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कोई वात एकार्थ नाना घोषो मे भी कही जाती है। तदनुसार यहाँ व्यवदान का फल भी एकार्थ नाना घोष से कहा है। सिद्ध होने वाला व्यक्ति बुद्ध भी हो जाता है, मुक्त भी हो जाता है, परिनिर्वाण भी पा लेता है और सब दुखो का अन्त भी कर डालता है। ऐसा होने पर भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आदि शब्दों को जुदा–जुदा कहने का कारण, मेरी समझ से, यह मालूम होता है कि जैनशास्त्रानुसार सिद्ध होने वाला बुद्ध भी होता है। कुछ लोग मोक्ष मे अज्ञान–अवस्था बतलाते हैं। जैन–शास्त्र इस मान्यता से सहमत नही है। मोक्ष मे अज्ञान–अवस्था मानने वालो के शब्दाघात से अपना पक्ष सुरक्षित रखने के लिए ही 'सिद्ध' कहने के साथ ही 'बुद्ध' होना भी कहा गया है। वास्तव मे तो सिद्ध होना और बुद्ध होना एक ही बात है। यही बात यहा नाना घोष से प्रकट की गई है।

किसी–किसी का कथन है कि सिद्ध को ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होता है परन्तु आचार्यों का

मत यह भी है कि सिद्धो में ज्ञान और दर्शन का एक साथ उपयोग नही रहता । जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नही रहता और जब दर्शन का उपयोग होता है तब ज्ञान का उपयोग नही रहता । यह विषय चर्चास्पद है । अगर किसी चर्चास्पद विषय में हमारी बुद्धि काम न दे सके तो 'केवलिवाक्य प्रमाणं' कहकर सतोष मानना चाहिए । परन्तु जो बात शास्त्र में स्पष्ट रूप से कही गई हो, उसे तो उसी रूप मे मानना चाहिए । सिद्ध के ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक साथ होता है या नही, इस विषय मे पन्नवणासूत्र मे कहा है—

केवली ण भते ! जं समय जाणइ न तं समयं पासइ !
जं समयं पासइ न तं समय जाणइ ? हता, गोयमा !

अर्थात्—गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछा—भगवन् ! केवली का जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता ? और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नही होता ?

उत्तर में भगवान् ने कहा—हां, गौतम ! ऐसा ही है।

शास्त्र मे इस वचन के प्रमाण से हमे ऐसा मानना चाहिए कि सिद्ध को जब दर्शनोपयोग होता है, तब ज्ञान का उपयोग नही होता, और जब ज्ञान का उपयोग होता है, तब दर्शन का उपयोग नही होता ।

कहने का आशय है कि सिद्ध होने पर ज्ञान-विज्ञान नष्ट नही हो जाता, यह प्रकट करने के लिए ही 'सिद्ध' के साथ 'बुद्ध' शब्द का भी प्रयोग किया गया है । 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्द के साथ अन्य शब्दों का प्रयोग किस प्रयोजन

से किया गया है, इस सम्बन्ध में स धारण विचार किया जा चुका है। यहाँ उस पर थोडा और विचार कर लेना है।

मुक्ति के विषय मे भी कुछ लोगो की अलग मान्यता है। मुक्ति के विषय मे जो विपरीत अर्थ किया जाता है, उससे अपने कथन को पृथक् रखने के लिए ही सिद्ध और बुद्ध के साथ 'मुक्त' शब्द का व्यवहार किया गया है।

मनुष्य का जीवन न केवल बडे हथियार से ही, वरन् छोटी-सी सुई से भी नष्ट हो सकता है, उसी प्रकार साधारण बात की भिन्नता से भी सिद्धान्त मे अन्तर पड जाता है और उसका खडन हो सकता है जब कुछ लोग किसी शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार का अथवा उलटा करने लगते हैं तब विपरीत अर्थ का निवारण करके सच्चा अर्थ बतलाना ज्ञानियो का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए शास्त्रकारो ने सिद्ध और बुद्ध कहने के साथ मुक्त शब्द का भी प्रयोग किया है। कुछ लोगो की ऐसी मान्यता है कि आत्मा को कर्मबध ही नही होता। जैनशास्त्र यह बात नही मानते। जैनशास्त्र कहते है अगर आत्मा को कर्मबध न होता तो वह मुक्त किस प्रकार हो सकता है ? आत्मा मुक्त होता है, तो वह पहले कर्म-बन्धन से बन्धा हुआ होना ही चाहिए। यही बात स्पष्ट करने के लिए 'मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार परिनिर्वाण को प्राप्त होने और सिद्ध में कोई अन्तर नही। परन्तु कुछ लोग निर्वाण का अर्थ निराला ही करते है। बौद्ध लोग निर्वाण का अर्थ दीप-निर्वाण के समान करते हैं। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने के बाद वह

कुछ नही वच रहता, इसी प्रकार सिद्ध होने पर आत्मा नही बचता। जैनशास्त्र इस मान्यता से सहमत नही हैं। अतः बौद्धों के कथन को अमान्य प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकारो ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त शब्द के साथ निर्वाण शब्द का भी प्रयोग किया है।

'निर्वाण शब्द के बाद शास्त्रकारों ने कहा है—'सब दुःखो का अन्त करता है।' सिद्ध होने मे और सब दुःखों का अन्त करने मे तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नही है, फिर भी दूसरे लोगो की गलत मान्यता का निवारण करने के लिए ही सब दुःखो का अन्त करने का भी विधान किया है। जैनशास्त्र कर्म को ही दुःख मानता है। श्रीभगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी और भगवान् के बीच इस विषय मे प्रश्नोत्तर हुआ है। वह इस प्रकार है—

दुक्खी णं भंते! दुक्खेण पुट्ठे, किं अदुक्खी दुक्खेण पुट्ठे?

अर्थात्—हे भगवन्! दुखी दुःख से स्पृष्ट होता है, अथवा अदुखी दुःख से स्पृष्ट होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—दुःखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है। अदुखी दुःख से स्पृष्ट नही होता।

इस प्रकार दुखी को ही दुःख का स्पर्श होता है। यहा सब दुःखो का अन्त करने के लिए कहा गया है, उसका फलितार्थ भी कर्म से रहित होना है। सब कर्मों को नष्ट कर देना अर्थात् सब दुःखो का अन्त कर देना। यहा दुःख शब्द से कर्म लेना चाहिए। दुःखो का अन्त होने का अर्थ कर्मो का अन्त होना है। इसीलिए श्रीभगवतीसूत्र मे चौवीस

दण्डक के विषय में जो प्रश्नोत्तर किये गए हैं, उनमें भी यह कहा गया है कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देव भी दुःख से स्पृष्ट होते है, क्योकि उनमें भी अभी तक कर्म शेष है। और जिनमे भावकर्म शेष नही रहते वे दु.ख से स्पृष्ट नही होते।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध होने के साथ आत्मा कर्मरहित हो जाता है और सब दु खो से मुक्त हो जाता है। यहा एक प्रश्न यह रह जाता है कि कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते है ? कर्म स्वय आत्मा के साथ लगते हैं या ईश्वर की प्रेरणा से ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—अगर ईश्वर की प्रेरणा से कर्मो का आत्मा के साथ लगना मान लिया जाये तो ईश्वर के स्वरूप मे अनेक विकृतिया और बाधाएँ उपस्थित होती है। उदाहरणार्थ– एक आदमी नदी मे डूब रहा हो और उसे बाहर निकाल सकने वाला दूसरा कोई मनुष्य खडा-खडा देख रहा हो, तो क्या उसे दयालु कहा जा सकता है ? जब ऐसे मनुष्य को भी दयालु नही कहा जा सकता तो फिर परम–दयालु कहलाने वाला परमात्मा क्या जीवों को कर्मबन्धन से बाँध कर ससार-सागर में डुबाएगा ? वास्तव मे ईश्वर कर्त्ता नही है और न वह किसी जीव को कर्म–बन्धन से बान्धता है। गीता मे भी कहा है–

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।

अर्थात्— प्रभु न लोक का कर्त्ता और न कर्मो को उत्पन्न करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अगर ईश्वर

कर्मों की प्रेरणा नही करता तो कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए, एक घडा तेल से भीगा हुआ है, दूसरा पानी से भीगा है और तीसरा घडा बिलकुल कोरा है। रज को ज्ञान नही होता कि मैं किस घडे के साथ किस प्रकार लगूं ? फिर भी जो घडा तेल से भीगा है उसमे रज अधिक चिपकेगी। जो घडा पानी से भीगा है उस पर रज चिपकेगी तो सही, पर तेल के घडे के बराबर नही। और कोरे घडे पर रज गिरेगी मगर हवा से जैसे गिरेगी वैसे ही हवा से उड भी जाएगी। इसी प्रकार कर्मरज चौदह राजू लोक मे—सर्वत्र भरी पडी है। परन्तु भावकर्मों मे जितना चिकनापन होगा, उसी के अनुसार कर्म आत्मा के साथ लगेंगे। अगर भाव-कर्म मे चिकनापन अधिक होगा तो कर्म अधिक लगेंगे, अगर चिकनापन कम होगा तो कर्मवर्गणा कम चिपकेगी। अगर आत्मा कोरे घड़े के समान भावकर्म के चिकनेपन से रहित होगा तो उसमे राग-द्वेष न होगे तो कर्म चिपकेगे ही नही।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्म की व्यवस्था यदि इस प्रकार की है तो कर्मों को उदय मे आने का और सुख-दुःख रूप मे परिणत होने का ज्ञान किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर यह है कि क्या दवा को ऐसा ज्ञान है कि मैं पेट मे जाकर इस प्रकार फ़ेरफार करूँ ? क्या दूध जानता है कि पेट मे जाकर मैं इस प्रकार रसभाग और खलभाग मे परिणत हो जाऊँगा ? ज्ञान न होने पर भी दूध और दवा अपना-अपना गुण बतलाते हैं

या नही ? किसी भूखे आदमी को दूध पिलाया जाये तो दूध पीते ही उसकी आँखो मे कैसा तेज आ जाता है ! दूध और दवा को इस बात का ज्ञान नही है फिर भी उसमे शक्ति अवश्य है । इसी प्रकार कर्म को यह ज्ञान नही है कि मुझमे कैसी शक्ति विद्यमान है, परन्तु जब कर्म आत्मा को लगते है तब वे अपना गुण प्रकट करते ही है । भाव-कर्म के चिकनेपन के अनुसार कर्म उदय मे आकर सुख या दुःख देते हैं ।

कहने का आशय यह है कि दुखी ही दुख से स्पृष्ट होता है । कुछ लोगो का कहना है कि आत्मा को कर्मबधन ही नही होता, परन्तु जैनशास्त्र को यह कथन मान्य नही है । इसीलिए अर्थात् इस कथन का निषेध करने के लिए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण होने के साथ ही सब दुखों के अन्त होने का कथन किया गया है ।

कुछ लोग दुखों का अन्त करने का अर्थ, बेडी काटने के साथ पैर को भी काट डालने के भावार्थ मे करते हैं । उनका कहना है कि दुखों के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है मगर यह बात मिथ्या है । आत्मा दुखो का अन्त होने पर सुखनिधान बन जाता है, नष्ट नही होता ।

भगवान् ने कहा है— व्यवदान से आत्मा अक्रिया-अवस्था प्राप्त करता है और फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण पाता है तथा समस्त दुखो का अन्त करता है । भगवान् के इस कथन को हृदय मे उतार कर हमें अपनी स्थिति का विचार करना चाहिए । अगर आप कर्मरहित हो गए होते तो अपने लिए किसी प्रकार के

उपदेश की आवश्यकता ही न रहती। परन्तु हम लोग अभी अपूर्ण हैं और इसीलिए हमे उपदेश सुनने–समझने की आवश्यकता है। श्री आचारागसूत्र मे कहा है — जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली उसे उपदेश सुनने की आवश्यकता नही रहती। अपन अभी अपूर्ण हैं, अत उपदेश सुनकर हमे क्या करना चाहिए, इस बात का गहरा विचार करना आवश्यक है। ज्ञानी और अज्ञानी की रीति-नीति मे बहुत ही भेद होता है। यह बात सामान्य उदाहरण से समझाता हू। मान लीजिए, किसी वृक्ष पर एक ओर वन्दर बैठा है और दूसरी तरफ एक पक्षी बैठा है। इतने मे तेज तूफान आया और वृक्ष उखड कर गिर पडा ऐसी स्थिति मे दुख किसे होगा? बन्दर को या पक्षी को ? पक्षी तो अपने पखो के द्वारा ऊपर उड जायेगा परन्तु बेचारा बन्दर तो वृक्ष के नीचे कुचल जाएगा। यही बात ज्ञानी और अज्ञानी को लागू होती है। ससाररूपी वृक्ष पर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकार के लोग बैठे हैं। परन्तु ससार वृक्ष नीचे गिरेगा तो ज्ञानीपुरुष पक्षी की भाति उर्ध्वगमन करेगे और अज्ञानी उसी ससारवृक्ष के नीचे दब कर दुखी हो जाएँगे।

इस कथन से यह सार लेना है कि हम शरीर मे रहते हुए भी किस प्रकार निर्लेप रह सकते हैं। यह शरीर तो एक दिन छूटने को ही है। मरना सभी को है। परन्तु पक्षी के समान ऊर्ध्वगति करना ठीक है या वन्दर के समान पतित होना ठीक है, इस बात का विचार करो। कहोगे तो यही कि ऐसे अवसर पर पक्षी की तरह ऊर्ध्वगति करना ही योग्य है, परन्तु पक्षी को पख उसी समय नही आ जाते। पहले से ही उसके पख होते हैं और इसी कारण आवश्यकता

पड़ने पर वह उड़ जाता है। इसी प्रकार ऐसे अवसर पर आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने की पहले से ही तैयारी करो। आग लगने पर कुआ खोदने से क्या लाभ ? अतः आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने की तयारी पहले से ही करो। शास्त्रकार हमें मोक्ष का मार्ग इसलिए बतलाते हैं कि हम पहले से ही मोक्ष के मार्ग पर चलने का अभ्यास कर सकें। शास्त्र में कही बात हृदय मे उतार कर और उसी के अनुसार आचरण करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। आत्मा ही कर्मरहित होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और परमात्मा बन जाता है।

कुछ लोग आत्मा को अलग और परमात्मा को अलग मानते है, परन्तु ज्ञानियों की तात्त्विक दृष्टि से आत्मा और परमात्मा समान ही है। कर्मबन्धन से रहित होकर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। शास्त्र मे कहा है–जो आठ कर्मों से बद्ध हैं वह आत्मा है और आठ कर्मों से मुक्त हो गया वह परमात्मा है। शास्त्र के इस कथन के अनुसार हमारा आत्मा भी आठ कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है। अगर हम आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं तो हमे कर्मबन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मबन्धन मे आत्मा की परतन्त्रता और कर्ममुक्ति मे आत्मा की स्वतन्त्रता रही हुई है। अतः आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही सम्यक् पुरुषार्थ है।



उनतीसवां बोल

सुखसातर

अट्ठाईसवें बोल मे व्यवदान के विषय में विचार किया गया है। व्यवदान अर्थात् पूर्वसञ्चित कर्मों का नाश करने से सुख-साता उत्पन्न होती है और सयम मे शाति आती है। अगर सयम मे शाति न आये तो समझना चाहिए कि व्यवदान अर्थात् सचित कर्मों का क्षय ठीक नहीं हुआ। अब सुख-साता के विषय मे भगवान् महावीर से गौतम स्वामी प्रश्न करते है।

मूलपाठ

प्रश्न – सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर – सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ, अणुस्सुएणं जीवे अणुक्कडे, विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन् ! सुखसाता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर – सुखसाता अथवा सुखशय्या से जीव को मन

मे अनुत्सुकता उत्पन्न ह ती है। अनुत्सुकता से जीव को अनुकम्पा होती है, अनुकम्पा से निरभिमानता होती है। निरभिमानता से जीव शोकरहित होता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

विवेचन

'सुहसाएण' इस पाठ का एक अर्थ तो 'सुखसाता' होता है और दूसरा अर्थ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'य' का लोप न करने से 'सुखशय्या' भी होता है।

प्रश्न हो सकता है कि सुख-शाति तो सभी जीव चाहते हैं, और सयम से भी जब सुख-शाति प्राप्त होती है तो फिर सयम के लिए किस प्रकार की सुख-शाति का त्याग करना पड़ता है ? और सयम से किस प्रकार की सुख-शाति मिलती है ? हमे यह देखना है कि यहा किस प्रकार की सुख-शाँति का वर्णन किया गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि २९ वे बोल में अर्थात् सुखसाता के बोल मे कालक्रम से पाठान्तर हो गया है। इस सम्बन्ध मे टीकाकार का कहना है सुखसाता–सुखसाया–शब्द से यकार का लोप न किया जाय तो 'सुखशय्या' शब्द बनता है। 'सुखशय्या' शब्द का अर्थ है–सुख से सोना। सुखशय्या के चार भेद किये गये हैं। श्रीस्थानागसूत्र के चौथे स्थान मे भगवान् ने कहा है–हे गौतम ! सुखशय्या के चार भेद किये है।

पहला भेद मूड होकर निग्रन्थप्रवचन के प्रति नि.शक रहता है, जो मुंडित होकर निग्रन्थ–प्रवचन के प्रति नि शक

रहता है वह सुखशय्या पर शयन करने वाला है । कितने ही लोग कहते हैं कि पहले कषायो का मुडन करना चाहिए और फिर शिरोमुडन करना चाहिए । अगर कषायो का भलीभाति मुडन कर लिया हो तो शिरोमुडन न करने पर भी काम चल सकता है । इस प्रकार कहने वाले लोगो से पूछना चाहिए कि कषाय का मुडन हुआ है अथवा नही, इस बात का निर्णय किस प्रकार हो सकता है ? कषाय का मुडन होना अन्तरग-भाववस्तु है । इसे व्यवहार में किस तरह जान सकते हैं ? अतएव यहा मुंड होने का सम्बन्ध शिरोमुडन के साथ ही है

सर्वप्रथम व्यवहार साधा जाता है और उसके बाद निश्चय साधा जाता है । लोग अपने व्यवहार मे तो यह बात भूलते नही किन्तु धर्म के काम मे व्यवहार को ताक मे रखकर निश्चय को ही प्रधान पद देते हैं । ऐसा करना एक प्रकार से धर्म को भूल जाना है । छद्मस्थ के लिए तो व्यवहार ही जानने योग्य है । निश्चय तो ज्ञानीजन ही जानते हैं । अतएम एकदम निश्चय को ही मत पकड बैठो, पहले व्यवहार की रक्षा करो ।

मान लो कि किसी मनुष्य में साधुता के सभी गुण मौजूद हैं, किन्तु उसका लिग (वेष) साधु का नही है। तो क्या तुम उसे साधु मानकर वन्दना करोगे ? साधु का वेष न होने के कारण तुम उसे वन्दना नही करोगे । व्यवहार मे वेष से ही साधु पहचाना जाता है । श्रीभगवतीसूत्र में कहा है—'असुच्चा केवली' अर्थात् केवलज्ञान तो हो गया है, पर वह अन्तरंग है । बाह्य वेष बदला नही है अथवा अवसर न होने के कारण बदला नही जा सका है, ऐसे

केवली को वन्दन करने के लिए श्रावक नही जाता। क्योकि श्रावक उस भावमय वस्तु को जानता नही है। इस प्रकार शास्त्र मे भी पहले व्यवहार की रक्षा की गई है। परन्तु आजकल अनेक लोग निश्चय के नाम पर व्यवहार का उच्छेद करते हैं। तुम कही पत्र लिखते हो तो साधुओ के विषय मे लिखते हो कि अमुक जगह दस सत विराजमान है। पर क्या तुम्हे खातिरी है कि उन दसो साधुओ मे भावसाधुता है? इस प्रकार व्यवहार मे जो साधु का वेष धारण करता है वही साधु माना जाता है। अगर साधुता होने पर भी गृहस्थ का वेष धारण करे तो वह गृहस्थ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि मुंड होने का अर्थ शिरोमुंडन करना है। भगवान् कहते है कि जो मुंड होकर निर्ग्रन्थप्रवचन के प्रति निःशक होता है वह सुखशय्या पर सोने वाला है।

दूसरी सुखशय्या यह है कि, मुंड होकर स्वलाभ मे ही आनन्द मानना और परलाभ की अपेक्षा न रखना। जो व्यक्ति दूसरे के लाभ के आधार पर आनन्द मानता है, कहा जा सकता है कि वह दुःखशय्या पर सोने वाला है। आज तुम लोगो मे जो दुःख नजर आ रहा है वह कहा से आया है? इस बात पर विचार करो। मनुस्मृति मे कहा है—'सर्वमात्मवश सुखम्।' अर्थात् स्वाधीनता मे ही सुख है। तुमने सुना होगा—'पराधीन सपने सुख नाही।' अर्थात् पराधीन पुरुष को स्वप्न मे भी सुख नही हो सकता।

नीतिकारो का यह कथन जानते-बूझते हुए भी आज तुम लोग पराधीनता की बेडी में जकडे हुए हो। स्वय ही

तुमने पराधीनता बुलाई है और इस कारण आज अधिक दुःख फैला हुआ है। आज तुम्हारे अन्दर पराधीनता इतनी पैठ गई है कि तुम्हे स्वाधीनता का विचार तक नही आता। मगर एक बात सदा ध्यान मे रखना, सच्चा सुख सदैव स्वाधीनता मे ही है। पराधीनता मे सुख नही, दुःख ही है। इसलिए भगवान् ने कहा है–जो पुरुष स्व लाभ मे ही आनन्द मानता है, पर लाभ की अपेक्षा नही रखता, वही पुरुष सुखशय्या पर शयन करने वाला है।

जो पुरुष भोजन तो खाता है परन्तु भोजन बनाना नही जानता, विचार करो कि वह मनुष्य सुखशय्या पर सोने वाला है या दुःखशय्या पर सोने वाला है ? बचपन मे मैं भाई–बन्दो के साथ मगलेश्वर गया था। हम जितने जने गये थे, उनमे से सिर्फ एक आदमी रसोई बनाना जानता था, और किसी को भोजन बनाना नही आता था। उस जानकार आदमी ने रसोई बनाई और हम सब ने खाई। वापस लौटने पर हममे से एक लडके ने अपनी माता से कहा–'अब अपन कही बाहर चलेंगे तो उस रसोई बनाने वाले आदमी को साथ ले चलेंगे।

माता ने उत्तर मे कहा—वह रसोई बनाने वाला तुम्हारे बाप का नौकर नही है कि तुम्हारे साथ आएगा !

इस प्रकार जो मनुष्य पराधीन रहता है उसे कष्ट सहन करने पडते हैं और कटुक वचन भी सुनने पडते हैं। इसी कारण भगवान् ने जगत् के जीवो को सबोधन करके पराधीनता मे दुःख और स्वाधीनता मे सुख बतलाया है। सुखशय्या पर सोना अच्छा है और दुःखशय्या पर सोना दुःखदायक है।

तुम जिन चीजो का सदैव व्यवहार करते हो और जिनके लिए तुम्हे अभिमान है, उनमे से कोई चीज ऐसी है जिसे तुम बना सकते हो ? अगर बना नही सकते तो यह तुम्हारी पराधीनता है या स्वाधीनता ? इस पर विचार करो। सिद्धान्त मे कहा है - राजकुमार हो या श्रेष्ठिकुमार हो, प्रत्येक कुमार को ७२ कला सीखना आवश्यक है । ७२ कलाओ मे जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाली वस्तुए बनाने को और उनका उपयोग करने की कला का समावेश हो जाता है । इन ७२ कलाओ को सीख लेने से जीवन पराधीन नही रहता स्वाधीन बन जाता है । यह आश्चर्य और दुःख का विषय है कि आज लोग पराधीन होते हुए भी अभिमान करते है। जीवन को स्वतत्र बनाने के लिए कलाओ का ज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है।

श्री ज्ञातासूत्र मे, मेघकुमार के अध्ययन मे ७२ कलाओ का वर्णन किया गया है। उनमे एक कला अन्नविधि सबन्धी है । इस अन्नविधिकला में, अन्न किस प्रकार उत्पन्न करना, किस प्रकार सुरक्षित रखना और किस प्रकार पका कर खाना आदि का शिक्षण आ जाता है । अर्थात् कृषिकर्म के साथ ही कृषि द्वारा उत्पन्न हुई वस्तु की रक्षा और उसके उपयोग की विधि भी मालूम हो जाती है । शास्त्र मे इस कला के भी तीन भेद किये गये हैं । सर्वप्रथम कला को सूत्र से जानना चाहिए, फिर जानी हुई कला को अर्थ से समझना चाहिए और अन्त मे जानी तथा समझी हुई कला को अमल मे लाना चाहिए ।

अगर कोई मनुष्य किसी कला को सूत्र से तो जानता है परन्तु अर्थ से नही समझता और कर्म से व्यवहार में

नही लाता तो समझना चाहिए कि वह मनुष्य कला सम्पादन मे अभी अधूरा है । पूर्ण कलाकुशल मनुष्य वही कहा जा सकता है जो सूत्र से अर्थ से और कर्म से कला का सम्पादन करता हो । अन्नविधि की तरह वस्त्रविधि, गृहविधि आदि की भी कला है । ७२ कलाओ का सम्पादन करने वाला मनुष्य ही पहले कलाकुशल कहलाता था । आज तो कलाए प्रायः नष्ट हो गई हैं । आज लोग तैयार वस्तुए लेकर पराधीन बन रहे हैं, फिर भी तैयार वस्तु लेने मे अपने आपको स्वाधीन और निष्पाप मानते हैं । लेकिन शास्त्र का यह कथन है कि परावलम्बी, पराधीन रहने वाला दुःखशय्या पर सोने वाला है और स्वावलम्बी-स्वाधीन रहने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है तुम लोग सुन्दर मकान मे रहते हो, मिष्ट भोजन करते हो और अपने आपको सुखी मानते हो । परन्तु तुम उन वस्तुओ के लिए पराधीन हो, अतएव शास्त्रकार तो तुम्हे दुःखशय्या पर सोने वाला ही कहते हैं । शायद ही कोई भील ऐसा हो जो अपनी झोंपडी बनाना न जानता हो । मगर तुम जिस मकान मे रहते हो, उसे बना सकते हो ? अगर नही, तो स्वाधीन हो या पराधीन हो ? वास्तव मे स्वाधीन मनुष्य ही सुखी है और पराधीन मनुष्य ही दुखी है । यही बात दृष्टि मे रखकर युधिष्ठिर के महल की अपेक्षा व्यास की झोपड़ी श्रेष्ठ गिनी गई है ।

कहने का आशय यह है कि स्वलाभ मे आनन्द मानना और परलाभ की आशा न रखना ही साधु के लिए सुखशय्या है । सुखशय्या पर शयन करने से मन निराकुल बनता है । जो मनुष्य पराधीन परतन्त्र नही होता, उसी का मन व्याकु-

लतारहित होता है । परन्तु तुम लोग परतन्त्र हो और तुम्हारा मन व्याकुल रहता है, फिर भी अपने आपको सुखी मान रहे हो, यह आश्चर्यजनक बात है । मन को व्याकुल न होने देना ही सच्चा सुख है । बाह्य पदार्थों में सुख नही है । इस कथन का सार यह है कि मन की अव्याकुलता ही सुखशय्या है और मन की व्याकुलता ही दुःखशय्या है । सुन्दर महल में रहने पर भी और मिष्ट भोजन करने पर भी अगर मन व्याकुल हुआ तो दुःख उत्पन्न होता है । इसके विपरीत घास की झोपडी मे रहते हुए भी और रूखा-सूखा भोजन करने पर भी अगर मन निराकुल हुआ तो सुख उत्पन्न होता है । इस प्रकार मन की व्याकुलता से दुःख पैदा होता है और मन की अव्याकुलता से सुख पैदा होता है । इसके समर्थन मे आगम मे कहा है -

त संथारं निसन्नो मुणिवरो नट्ठरागविम्मोहो ।
पावइ ज मुत्तिसुह कुतो तं चक्कवट्टीए ? ॥

अर्थात्-- घास के बिछौने पर सोने वाले, राग-द्वेष, मोह आदि को नष्ट करने वाले मुनिवर जिस आनन्द का का उपभोग करते हैं, वह बेचारे चक्रवर्ती को भी कहाँ नसीब है ?

बाह्य वैभव कैसा ही क्यो न हो, मन अगर व्याकुल रहता है तो दुःख ही समझना चाहिए और बाह्य वैभव थोडा हो या न हो किन्तु मन अव्याकुल हो तो सुख ही है, ऐसा मानना चाहिए । इस कथन के अनुसार जो साधु पराधीन है और जिसका मन व्याकुल रहता है वह दुःखी है । जो साधु स्वाधीन है, जो अपना काम आप कर लेता

है, और जिसका मन अव्याकुल रहता है, वह सुखशय्या पर सोने वाला है—सुखी है।

पहले के लोग ऐसे थे कि वे प्राण देना कबूल कर लेते थे परन्तु परतन्त्रता स्वीकार नही करते थे। किन्तु ससार परिवर्त्तनशील है, इस कारण अब वह क्रम बदल गया दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है कि लोग परतन्त्रता मे ही आनन्द मान रहे हैं।

तीसरी सुखशय्या बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—विषयो का ध्यान भी न करना। आनन्द के लिए विषयों का भोग करना तो दूर, उनका विचार भी न करना तीसरे प्रकार की सुखशय्या है।

चौथी सुखशय्या यह कि चाहे जैसी आपत्ति आ पडे तो भी आपत्ति के समय सहिष्णुतापूर्वक कष्ट सहन करना और प्रसन्नचित रहना। दुःख जब सिर पर आ पडे तो इस प्रकार विचारना—अगर मैं इन दुखो को प्रसन्नतापूर्वक सहन करूगा तो मुझे महान् निर्जरा का लाभ मिलेगा और जो दुखपूर्वक सहन करूगा तो कर्मबन्ध होगा। अनेक महात्मा तो कर्मों की उदीरणा करके दुखो को समभाव से सहन करते हैं, तो फिर आई हुई विपत्ति से मुझे क्यो घबराना चाहिए? जो दुख आये हैं वे बिना किये तो आये नही। मैंने दुखो को जन्म दिया, तभी वे आये हैं। अब, जब दुख माथे आ पडे है तो उन्हे समता के साथ और धैर्यपूर्वक सहना ही चाहिए। धैर्यपूर्वक दुख सहन करने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है, ऐसा समझना चाहिए।

सुखसाता के पाठान्तर के विषय मे यहाँ विचार किया

गया है । सूत्र में आये 'सुहसाया' शब्द के सुखसाता और सुखशय्या दोनो अर्थ किये जाते है । सुखशय्या के चार भेद करके उनका जो विवेचन किया गया है उस सब का सार यह है कि वास्तव मे बाहर के पदार्थों मे सुख नही है । सुख तो अन्दर ही है । सुख स्वाधीनता मे है, पराधीनता मे नही । जितनी-जितनी पराधीनता बढती है, उतना ही दुःख बढता जाता है । इसके विपरीत जो जितना स्वाधीन है वह उतना ही सुखी है लोग भी कहते तो हैं कि पराधीनता मे दुःख और स्वाधीनता मे सुख है, परन्तु व्यवहार मे यह बात भूल जाते है । परतन्त्र रहना बालदशा है । जो तुम्हारे सच्चे हितैषी होगे वे तुम्हे इस बालदशा से बाहर निकालने का ही प्रयत्न करेंगे । अगर तुम बालदशा से बाहर निकलना चाहते हो तो स्वाधीन बनने का प्रयत्न करो । तुम मोटर मे बैठते तो हो पर मोटर बनाना या चलाना नही जानते । ड्राइवर मोटर चलाता है किन्तु वह गडहे मे गिरा दे तो ? इस तरह इन बातो पर ध्यान रखकर पराधीनता हटाओ और स्वतन्त्र बनो । आखिर स्वतन्त्र बनने मे ही सुख है ।

कदाचित् तुम कहोगे कि तैयार चीज लेने से तथा व्यवहार करने से पाप नही लगता । अतएव अपने हाथ मे कोई चीज बनाने की अपेक्षा तैयार चीज लेना ही उचित है । इसके उत्तर मे श्रावको का वर्णन करते हुए शास्त्र मे कहा गया है—

'धम्मिया, धम्मियाणदा, धम्मोवएसगा, धम्मेण च वित्ति कप्पमाणे विहरइ ।'

अर्थात्-श्रावक धर्मी होता है धर्म में आनन्द मानने वाला होता है, धर्म का उपदेशक होता है और धर्मपूर्वक आजीविका करता हुआ विचरता है।

अब यहा विचार करो कि धर्मपूर्वक आजीविका करने का अर्थ क्या है? क्या श्रावक भिक्षाचरी करता है? श्रावक जब तक ग्यारह प्रतिमाधारी नही बनता तब तक भिक्षा नही कर सकता। भिक्षा के तीन प्रकार हैं। पहली सर्व-सम्पत्तिकरी भिक्षा, दूसरी वृत्तिभिक्षा, और तीसरी पौरुषघ्नी भिक्षा है।

जो महात्मा सयम का पालन करते हैं और केवल सयम की रक्षा के लिए ही शरीर का निर्वाह करने जितनी भिक्षा लेते हैं वह भिक्षा सर्वसम्पत्तिकारी कहलाती है। भगवान् ने साधुओ को अपना शरीर नष्ट करने की आज्ञा नही दी है। साधु केवल शरीरनिर्वाह के लिए और धर्मा-चरण करने के लिए ही भिक्षा लेते हैं। यह भिक्षा सर्व-सम्पत्तिकारी होती है। जो भिक्षु सम्यक् प्रकार से साधुधर्म का पालन नही करता, उसे भिक्षा मांगने का अधिकार नही है। जो भिक्षु निरारभी और निष्परिग्रह रहकर साधुधर्म का बराबर पालन करता है, उसी को भिक्षा मागने का अधिकार है। जो भिक्षु सयम का पालन नही करता और केवल पेटपूर्ति के लिए भिक्षा माँगता है, शास्त्र मे उसे 'गार्मपिडोलिया' कहा है।

कितनेक लोग साधुधर्म का पालन न करते हुए भी सिर्फ पेट भरने के लिए साधु वन जाते हैं। ऐसे पेटू साधु समाज के लिए भाररूप हैं। भारत मे ऐसे साधु करीव

बावन लाख है। इन बावन लाख साधुओ के लिए भारत को कितना खर्च वहन करना पडता है ? लोगो से भिक्षा माग-माग कर खाना और साधुधर्म का पालन न करना बहुत ही बुरी बात है। बहुत-से लोग इन पेटू साधुओ को भी गुरु-बुद्धि से मानते हैं। यह विषमकाल का ही प्रभाव है। विषमकाल कैसा होता है, यह बतलाते हुए शास्त्र मे कहा है - विषमकाल मे साधुओ की पूजा नही होती और असाधुओं की पूजा होती है। परन्तु जो लोग आत्मा का कल्याण करना चाहते होगे, वे तो साधुधर्म का बराबर पालन करने वाले साधु की ही पूजा करेंगे और उसी को गुरु के रूप मे मानेगे।

दूसरी वृत्तिभिक्षा है। लूले, लगडे या अपग लोग जो भीख मागते हैं, वह वृत्तिभिक्षा कहलाती है। इस वृत्ति-भिक्षा की न निन्दा की गई है और न प्रशसा ही की गई है। दयालु लोग दया करके देते हैं और दया को कोई बुरा नही कहता।

तीसरी भिक्षा पौरुषघ्नी है। जो लोग हृष्टपुष्ट हैं और जो मेहनत करके कमा सकते हैं, फिर भी मेहनत-मजूरी न करके केवल भीख माग कर खाते है, उनकी भिक्षा पौरुषघ्नी है।

कहने का आशय यह है कि श्रावक धर्मपूर्वक आजी-विका करने वाले कहे गए हैं। गृहस्थ श्रावक भिक्षा माग-कर नही खाते, वरन् धर्मपूर्वक अपनी आजीविका करते हैं। श्रावक न्यायपूर्वक आजीविका करते थे और स्वतन्त्रतापूर्वक आजीविका करते थे। उस समय के श्रावक स्वावलम्बी थे।

तुम भी अपने पूर्वज श्रावको के चरण-चिह्नो पर चलकर स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करो । स्वावलम्बन मे सुख है। परावलम्बन मे दुःख है ।

ससार के सभी लोग सुखशय्या चाहते हैं किन्तु सुख के नाम पर दुःखशय्या को अपना रहे है और दुःखशय्या के नाम पर सुखशय्या छोड रहे हैं। परन्तु भगवान् ने कहा है कि जो स्वाधीन है और जिसका मन निराकुल है, वही सुख-शय्या पर सो सकता है । मन को निराकुल बना देने से व्यावहारिक लाभ भी होता है और आध्यात्मिक लाभ भी होता है । पराधीन मनुष्य दुःखशय्या पर सोने वाला है । स्वाधीनता का मार्ग छोड देना और परतन्त्रता की बेडो मे जकड जाना, सुखशय्या त्याग करके दुःखशय्या पर सोने के समान है ।

एक कहावत है 'अपनी नीद सोना और अपनी नीद जगना' इस कहावत का सार यही है कि कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि जिसकी चिन्ता के मारे रात मे नीद तक न आये, परन्तु ऐसा सत्कार्य करना कि जिससे सुखपूर्वक निद्रा आवे । इसी प्रकार भगवान् ने साधुओ के लिए कहा है कि— हे साधुओ! तुम पेटपूर्ति के लिए साधु नही हुए हो, परन्तु आत्मोद्धार करने के लिए, स्व-पर कल्याण करने के लिए साधु हुए हो । अतएव दुःखशय्या का त्याग करके सुखशय्या पर सोने का प्रयत्न करो ।

सुखशय्या पर सोने के लिए तो कहा, परन्तु सुखशय्या पर सोने से जीव को क्या लाभ होता है ? ऐसा गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा । इस प्रश्न के उत्तर मे

भगवान् ने फर्माया—'सुहसाएण अणुस्सुयत्तं जणयइ' अर्थात् हे गौतम ! सुखशय्या पर सोने से मन की अव्याकुलता उत्पन्न होती है अर्थात् मन मे अनुत्सुकता पैदा होती है ।

मन मे अव्याकुलता किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसके लिए टीकाकार कहते हैं—जिन कारणो से मन में आघात-व्याघात या प्रत्याघात होता है, उन कारणो को तज देने से मन मे निराकुलता या अनुत्सुकता पैदा होती है । मन में निराकुलता उत्पन्न होना ही सुखशय्या का परिणाम है । जैसे आग के कारण पानी में उबाल आता है और आग के ऊपर से पानी उतार लेने पर पानी नही उबलता, उसी प्रकार जिन कारणो से मन मे चिन्ता या व्याकुलता बढती है, उन कारणो का त्याग कर देने से मन निश्चित और निराकुल बन जाता है । मन के निराकुल बन जाने से मन की चचलता घट जाती है अथवा मिट जाती है और फलस्वरूप आत्मा को शाति मिलती है । जो पुरुष दूसरो की आशा या अपेक्षा नही रखता और देव सम्बन्धी कामभोगों की भी अभिलाषा नही करता, उस पुरुष के हृदय में किसी प्रकार की व्याकुलता नही रहती । जो मनुष्य विषयसुख को विषमय और तुच्छ मानता है, उसके मन मे आकुलता-व्याकुलता रह नही पाती ।

विषयसुख की इच्छा न करने से मन अनुत्सुक बनता है । मन अनुत्सुक बनने से अर्थात् विषयसुख की इच्छा न होने से हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न होती है । अनुकम्पा की व्याख्या करते हुए कहा है—'अनुकूल कपन-चेष्टन अनुकपा ।' अर्थात् दूसरे का दुःख देखकर कांप उठना और दूसरे के

दुःख को अपना ही दुःख समझना अनुकम्पा है। इस प्रकार की अनुकम्पा विषय-सुख के इच्छुक के मन मे नही उत्पन्न होती। विषयसुख की इच्छा न रखने वाले को ही ऐसी अनुकम्पा उत्पन्न होती है। विषयसुख का अभिलाषी तो अपने विषयसुख को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करता है, फिर दूसरे लोग चाहे जीए, चाहे मरे। जो विषयसुख का त्यागी है, उसके हृदय मे दूसरे को दुःखी देखकर अनुकम्पा पैदा होती है दूसरो के दुःख से उसका हृदय काप उठता है।

आजकल तो दयालु पुरुष को कायर कहते हैं, परन्तु शास्त्र के अनुसार हृदय मे अनुकम्पा-दया होना सद्‌गुण है। जिन लोगो मे विषयसुख की लालसा नही रहती उन्ही मे यह सद्‌गुण पाया जाता है। जिनमे विषयसुख भोगने की लालसा बनी हुई है, उनमे दया या अनुकम्पा नही होती। उदाहरणार्थ— कोई कसाई बकरे को मारता हो तो उस समय तुम्हारे हृदय मे दया उत्पन्न हो यह स्वाभाविक है। परन्तु उस कसाई को दया नही, क्योकि उसे बकरे का मास खाने की लालसा है। अगर उसमे बकरे का माँस खाने की लालसा न होती तो उसके हृदय मे भी अनुकम्पा या दया उत्पन्न होती। अनुकम्पा के विषय मे शास्त्र में भी कहा है-

एवं खु णाणिणो सार जं न हिंसइ किंचणं .
अहिंसा समय चेव एयावत्त वियाणिया ॥

— सूयगडागसूत्र।

अर्थात्—किसी भी जीव की हिंसा न करना ही शास्त्र का सार है। ज्ञानीजन अहिंसा-अनुकम्पा को ही सिद्धान्त का सार कहते हैं। शास्त्र सुनने पर भी जिस मनुष्य के

हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न न हुई. अतः जो निर्दय होकर अपने घर मे भी अनुकम्पा का व्यवहार नही करता, उसने शास्त्र नही सुना बल्कि समझना चाहिए, उसने शस्त्र का प्रयोग करना सीखा है।

मेघकुमार के शास्त्रीय उदाहरण के अनुसार एक खरगोश को बचाने के खातिर हाथी एक पैर ऊँचा करके बीस पहर तक खड़ा रहा था। बीस पहर बाद जब दावानल शात हुआ और मडल मे आये हुए जीव बाहर चले गए तो हाथी अपना पैर नीचे रखने लगा। मगर बीस पहर तक पैर ऊँचा रखने के कारण उसका पैर रह गया था और वह जमीन पर गिर पडा। गिर जाने पर भी हाथी ने अनुकपा के विषय मे तनिक भी बुरा विचार न किया। उसने यह नही सोचा कि खरगोश के साथ मेरा क्या सम्बन्ध था कि उसे बचाने के लिए मैंने पैर ऊपर रखकर इतना कष्ट सहन किया ! भगवान् ने कहा है—हे मेघकुमार ! इस प्रकार की अनुकम्पा रखने के कारण हो तू हाथी-पर्याय से छूटकर राजा श्रेणिक के घर राजकुमार रूप मे जन्मा और सयम धारण कर सका है।

कहने का आशय यह है कि जो मनुष्य विषय-सुख के प्रति निस्पृह होता है, उसी मे अनुकम्पा का होना देखा जाता है। लोग जो बारीक, चिकने और मुलायम वस्त्र पहनते हैं, उनमे लगाई जाने वाली चर्बी के लिए कितने जीव मारे जाते हैं ? किसी दिन इस बात पर विचार किया है ? विचार क्यो नही करते ? इसीलिए कि उन रेशमी और मुलायम वस्त्रो के प्रति तुम निस्पृह नही हो ! जबतक

विषयलालसा छूटती नही तब तक अनुकम्पा उत्पन्न होती नही । जब प्राणीमात्र के प्रति आत्मभाव उत्पन्न होता है तभी अनुकम्पा उत्पन्न होती है । हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न करने के लिए परमात्मा से यही प्रार्थना करनी चाहिए—

ऐसी मति हो जाय, दयामय, ऐसी मति हो जाय ।
औरों के सुख को सुख समझूं, सुख का करूं उपाय ।।
अपने दुःख सब सहूं किन्तु परदुःख नहीं देखा जाय ।।

अर्थात् हे प्रभो ! मुझमे ऐसी सुबुद्धि उत्पन्न हो कि मैं दूसरो के दुःख को अपना ही दुःख मानूं और दूसरों के सुख को अपना सुख समझूं । इस प्रकार की सन्मति सब मे उत्पन्न हो जाए तो विश्वप्रेम फैल जाए । विश्वप्रेम की जननी अनुकम्पा है । अनुकम्पा पैदा करने के लिए विषय-सुख के प्रति निस्पृह बनो । जब तुम्हारे हृदय मे से विषय-सुख की लालसा दूर होगी, तब हृदय मे अनुकम्पा के अकुर फूट निकलेंगे । उस समय तुम दयापात्र बनने के बदले दयामय बन जाओगे । विश्वप्रेम उत्पन्न करने के लिए तुम दूसरो के सुख मे सुख और दुःख मे दुःख मानोगे तो स्व-पर का कल्याण ही करोगे ।

किसी भी कार्य का फल जान लेने से उसमें जल्दी प्रवृत्ति होती है । जब तक किसी कार्य का फल न जान लिया जाये तबतक किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति नही होती । व्यवहार मे भी देख-भाल कर ही प्रवृत्ति की जाती है । जब तुम्हे खातिरी होती है कि हम जो रुपया दे रहे है वह ब्याज सहित वापिस मिल जायेगा, तो तुम रुपया देने मे ढील नही करते । इसके विपरीत अगर तुम्हे मालूम हो जाये

कि हमारा दिया हुआ रुपया वसूल नही होगा, तो इस दशा मे तुम रुपया नही दोगे, यह स्वाभाविक है। महान् से महान् चक्रवर्ती भी फल की आशा से ही अपनी सम्पदा का त्याग करते हैं। इसी कारण भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि विषय-सुख की आसक्ति का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फर्माया है–विषयसुख का त्याग करने से विषयभोग के प्रति अनुत्सुकता उत्पन्न होती है, अर्थात् विषयसुख भोगने की उत्सुकता या इच्छा नही रहती। जिसने आम खाने का त्याग कर दिया है उसे आम खाने की उत्सुकता नही रहती। इसी प्रकार विषय-सुखो का त्याग करने से विषयो के प्रति उत्सुकता या चचलता नही रहती। त्याग न किया जाये तो उत्सुकता या चचलता बनी ही रहती है।

रामायण के कथनानुसार जब सूपणखा ने रावण के सामने राम और लक्ष्मण के गुणो का वर्णन किया तो रावण के हृदय मे किसी तरह की उत्सुकता या चचलता उत्पन्न न हुई परन्तु जब उसने सीता के रूप का बखान किया तो रावण के हृदय मे इस प्रकार की चचलता पैदा हो गई कि जो सीता ससार की स्त्रियो मे शिरोमणि बतलाई जाती है, उसे मुझे देख तो लेना चाहिए। इसी चचलता के कारण घोर अनर्थ हुआ। रावण अगर पहले से ही विषयसुख या परस्त्री का त्यागी होता तो उसके हृदय में इस प्रकार की चचलता पैदा न होती और तब ऐसा अनर्थ भी क्यो होता ?

इस प्रकार विषयसुख का त्याग करने से चचलता

मिट जाती है। चंचलता हट जाना और अनुत्सुकता पैदा होना त्याग का लक्षण है। त्याग करने पर अगर चचलता या उत्सुकता बनी हुई हो तो समझना चाहिए कि सच्चा त्याग अभी हुआ ही नहीं है। सच्चा त्याग तब समझना चाहिए जब हृदय मे तनिक भी चचलता न रह जाये। भगवान् का कथन है कि चचलता मिट जाने से और स्थिरभाव उत्पन्न होने से हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा कितना श्रेष्ठ गुण है, इस विषय मे कहा गया है--

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

अर्थात् दया-अनुकम्पा ही धर्म का मूल है। अनुकम्पा को सभी ने धर्म बतलाया है। जिसमे विषयसुख की लालसा नही होती उसे ही इस श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति होती है।

साधारण तौर पर प्रत्येक व्यक्ति मे, न्यूनाधिक परिमाण मे अनुकम्पा का गुण विद्यमान रहता है। परन्तु जब स्वार्थ के कारण हृदय मे चचलता आती है तब अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। उदाहरणार्थ— गाय किसी को यहा तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नही देती। फिर भी जब कसाई के दिल मे स्वार्थ के कारण तथा विषयलालसा के कारण चचलता उत्पन्न होती है तब वह निर्दयता के साथ गाय को कत्ल कर डालता है। विषयलालसा के कारण हृदय मे चचलता उत्पन्न होती है और चचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता या सर्वथा नष्ट हो जाता है, ऐसा क्रम है।

विचार करो कि तुम्हारे दिल में पशुओ के प्रति सच्ची दया है या केवल दया का दिखावा मात्र है? अगर तुम्हारे

हृदय में सच्ची दया हो तो क्या तुम ऐसी वस्तुओ का व्यवहार कर सकते हो जिनके खातिर पशुओ की हत्या की जाती है ? तुम यो तो गाय को नही मारोगे परन्तु तुम्हारे सामने गाय के चमडे के बने सुन्दर और मुलायम बूट रखे जाएँ अथवा गाय की चर्बी वाले कपडे तुम्हे दिये जाएँ तो उन्हे उपयोग करने के लिए लोगे या नही ? प्रत्यक्ष मे तो तुम गाय को माता कहोगे, मगर यह नही देखोगे कि तुम्हारे लिए गाय माता की हालत कितनी भयकर हो रही है ? क्या कभी तुमने सोचा है कि तुम जो मुलायम बूट पहनते हो वे किसके चमडे के बनते है ?

तुम कह सकते हो कि जूता पहने बिना काम नही चलता, मगर भारतवर्ष मे पहले चमडे के खातिर कभी भी पशुओ का घात नही किया जाता था। जो पशु स्वाभाविक मौत से मर जाते थे, उन्ही के चमडे के जूते बनाए जाते थे। आजकल तो विशेष तौर से चमडे के लिए ही पशु मारे जाते हैं। इतना ही नही, वरन् चमडे को सुन्दर और मुलायम बनाने के उद्देश्य से पशुओ की बडी ही निर्दयता के साथ हत्या की जाती है। क्या तुम लोगो ने ऐसे सुन्दर और मुलायम चमडे की बनी चीजो का त्याग किया है ? अगर त्याग नही किया तो क्या तुम्हारे दिल मे पशुओ के प्रति दया का भाव है ?

कल्पना करो, तुम्हारे सामने द्रौपदी को नग्न किया जाये और उसके शरीर पर से उतारे हुए वस्त्र, कोट, कमीज बनवाने के लिए तुम्हे दिये जाए तो क्या तुम उन वस्त्रो को हाथ भी लगाओगे ? तुम उस समय यही कहोगे कि जिन

वस्त्रो के लिए द्रौपदी माता को नग्न किया गया है, उन्हे हम छू भी कैसे सकते हैं ? इस प्रकार कह कर तुम उन वस्त्रो का उपयोग नही करोगे । मगर तुम्हारी मातृभूमि को हानि पहुचाने वाले वस्त्र तुम्हे दिये जाते हैं, उन्हे लेने का तुमने त्याग किया है ? तुमने हिंसामूलक वस्त्रो का और चमडे का त्याग नही किया, इसका एक प्रधान कारण यही है कि अभी तक तुम्हारे हृदय मे अनुकम्पा का भाव ही उदित नही हुआ है । अगर सच्ची अनुकम्पा तुम्हारे हृदय मे उत्पन्न हो जाती तो ऐसी हिंसामूलक वस्तुओ का तुम स्पर्श तक न करते ।

भगवान् कहते हैं कि हृदय मे अनुकम्पा का भाव पैदा होने से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता आती है । अनुकपा से हृदय नम्र बन जाता है और नम्र हृदय मे अभिमान उत्पन्न नही होता । अनुकम्पाशील मनुष्य मे 'मैं बडा हू, मैं यह काम कैसे करू ?' इस प्रकार का मिथ्या अभिमान नही होता। अनुकम्पा वाला मनुष्य दूसरे के दु:ख को अपना ही दुःख मानता है और दूसरे का दु ख मिटना अपना दु ख मिटना समझता है। वही सच्ची अनुकम्पा है जिसमे अभिमान या लालसा को स्थान न हो । जहा किसी भी प्रकार की लालसा होती है वहाँ विशुद्ध अनुकम्पा नही ।

आजकल कितने ही लोग अनुकम्पा के नाम पर दान तो करते हैं परन्तु साथ ही साथ अपने आप को दानी कहलाने के लिए अखबारो मे, बडे-बडे अक्षरो मे, अपने दान की घोषणा छपवाते हैं । क्या यह अनुकम्पा और दान है? वास्तव मे देखा जाये तो सच्ची अनुकम्पा न होने के कारण

ही प्रसिद्धि की इच्छा रहती है। हृदय में सच्ची अनुकम्पा हो तो नाम की इच्छा नही होती।

आनन्द श्रावक के पास बारह करोड स्वर्ण-मोहरों का धन था। उनमे से वह चार करोड स्वर्ण मोहरो से व्यापार करता था। उसके पास चालीस हजार गायें थी। जब उसने भगवान् के दर्शन किये तो भगवान् का उपदेश सुनकर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मै अब धन आदि की वृद्धि नही करूंगा इस प्रतिज्ञा के पश्चात् भी उसका चार करोड मोहरो का व्यापार चालू रहा और चालीस हजार गाये भी बनी रही। गायो मे वृद्धि होना स्वाभाविक है, फिर भी उसका त्याग भग नही हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है। शास्त्र मे ऐसा कोई स्पष्टीकरण नही किया गया है कि किस कारण उसकी सम्पत्ति मे और उसकी गायो में वृद्धि नही हुई ? और कैसे उसका त्याग भग नही हुआ ? परन्तु इसके कारण पर विचार करने मे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्द श्रावक बिना मुनाफे का व्यापार करता था अथवा बढी हुई सम्पत्ति दान मे देता था। उसे कोई मनुष्य गरीब दिखाई देता तो उसे गाय दान कर देता था। इस प्रकार उसकी सम्पत्ति तथा गायो का परिमाण भी बराबर रहता और त्याग की रक्षा के साथ दान आदि धर्म का भी पालन हो जाता था।

कहने का आशय यह है कि आनन्द श्रावक ने दानी होते हुए भी दानियो की नामावली मे अपना नाम प्रसिद्ध नही किया था। इतना ही नही वरन् शास्त्र मे उसके इस दान का वर्णन तक नही किया गया है। मगर यह बात

सहज ही समझी जा सकती है कि जब उसका त्याग भी सुरक्षित रहा और व्यापार आदि की मर्यादा भी बराबर कायम रही, तब बढी हुई सम्पत्ति का सिवाय दान के और क्या उपयोग हो सकता था ? जिस मनुष्य मे सच्ची अनुकम्पा होती है, वह दान भी गुप्त रूप से ही देता है और दान देकर अभिमान नही करता। वह अपने नाम की प्रसिद्धि भी नही चाहता ।

तुम लोग गाय की सेवा करके दूध पीते हो या, बाजार से खरीदा हुआ पीते हो ? तुम गाय की सेवा किये बिना ही दूध पीते हो, फिर भी अपने आपको अनुकम्पा वाला कहलवाते हो ? क्या बिक्री का दूध पीने मे अनुकंपा है ? शास्त्रकार इसे अनुकपा नही कहते । ऐसी दशा मे भी आज किसके घर मे गायें है ? आज कौन मोल खरीद कर दूध नही पीता ? स्त्रियाँ तो कह देगी कि हम अपनी सेवा करे या गायो की सेवा करे ? हम अपना सिंगार सजे अथवा गायो का गोबर और पेशाब उठाए ? जहाँ ऐसी भावना है वहाँ अनुकम्पा का गुजारा कहा ? सुना है, गाँधीजी ने भारत की गायो की दुर्दशा देखकर गाय का दूध पीना ही छोड दिया है । तुम लोग गाय का दूध तो पीते हो, मगर गाय की सेवा नही करते, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि तुममे अनुकम्पा का अभाव है ।

कहने का आशय यह है कि विषयसुख की लालसा का त्याग करने से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता पैदा होती है । जिसमे निरभिमानता प्रकट हो जाती है उसमे किसी प्रकार का

शोक, सताप या किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती। जिसमे सच्ची अनुकम्पा होती है उसे हानि होने पर चिन्ता नही होती। मान लीजिए, किसो व्यापारी ने रूई की गाँठों का वीमा उतरा लिया है। अब कदाचित् उन गाठो मे आग लग जाये तो क्या उस व्यापारो को चिन्ता होगी ? वह तो यही कहेगा कि मेरा क्या बिगडा ? मैंने तो पहले ही बीमा उतरा लिया है ! इसो प्रकार जिसके हृदय मे सच्ची अनुकम्पा होती है वह मनुष्य अपनी समस्त वस्तुएँ परमात्मा को समर्पित कर देता है और इसी कारण किसी भी वस्तु का नाश होने पर भी उसे चिन्ता नही होती। इतना ही नही, अपने प्राण तक चले जाने पर भी अनुकम्पाशील मनुष्य को किसी प्रकार की चिन्ता नही होती। कहा भी है :—

चाहत जीव सबै जग जीवन,
देह समान नही कछु प्यारो।
संयमवन्त मुनीश्वर को,
उपसर्ग हुए तन नाशन हारो।
तो चिन्तै हम आतमराम,
अखड अबाधित रूप हमारो।
देह विनाशिक सो हम तो—
नहि शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो॥

ससार का कोई भी प्राणी अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहता, क्योंकि देह सभी को प्रिय है। देह के बराबर अन्य कोई भी वस्तु प्रिय नही है। ऐसा होने पर भी सयमवन्त मुनीश्वर देहान्तकारी कष्ट उपस्थित होने पर भी चिन्ता नही करते। वे इसी प्रकार विचार करते हैं कि—

हमारा देह अलग है और आत्मा अलग है । गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर आग रखी गई, स्कदक मुनि की चमड़ी उखेड ली गई और पाच सौ मुनि कोल्हू मे पेर दिये गये, फिर भी उन मुनीश्वरों को किसी प्रकार की चिन्ता न हुई। कारण यह है कि वे मुनिराज आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानते थे । इस प्रकार शोकरहित होने का कारण अनुकंपा है । अनुकपा होने के कारण ही मुनीश्वरो को देहान्त कष्ट पडने पर भी चिन्ता पैदा न हुई।-उन्होने अपना शरीर पहले ही परमात्मा को समर्पित कर रखा था ।

सुख-साता के प्रश्नोत्तर मे भगवान् ने कार्य कारण-भाव बतलाया है । भगवान् ने कहा है - विषयलालसा न होने से अनुत्सुकता (विषयो के प्रति अनासक्ति) उत्पन्न होती है, अनुत्सुकता से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा मे जीव मे निरभिमानता आती है, निरभिमानता से जीव शोक-रहित बनता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है ।

शास्त्र मे मोहनीय कर्म के दो भेद कहे गये है— दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय तो वस्तु का सम्यक् स्वरूप समझने मे बाधक होता है और चारित्र-मोहनीय कर्म वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर भी उस समझ के अनुसार आचरण करने मे बाधक बनता है । वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से तदनुसार आचरण नही किया जा सकता । चारित्र-मोहनीय कर्म नष्ट होने पर ही चारित्र प्रकट होता है ।

अगर सकल्प-विकल्प न मिटे तो समझना चाहिए कि अभी तक चारित्रमोहनीय कर्म नष्ट नही हुआ है। सकल्प-विकल्प के मिट जाने पर वास्तविक चारित्र प्रकट होता है । जब चारित्रमोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से नाश हो आता है, तव आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है । इस प्रकार विषयलालसा को दूर करने से आत्मा गुणक्रमारोहण करके सिद्धि प्राप्त करता है । यही मुक्ति का मार्ग है। शास्त्रकार कहते हैं कि मोक्ष मार्ग सरल तो है मगर इस मार्ग पर जाने के लिए विपयलालसा आदि जो काँटे बिखरे पडे है, उन्हे सर्वप्रथम दूर करने की आवश्यकता है । विषयलालसा को जीत लिया जाये तो मुक्ति के मार्ग पर चलना सरल है । गीता मे भी कहा है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भारतर्षभ !

अर्थात् हे अर्जुन ! पहले इन्द्रियो की विपयलालसा जीत लो । विपयलालसा को जीत लेने से तुम सभी पर विजय प्राप्त कर सकोगे ।

मुक्ति मार्ग पर जाने के लिए, तुम लोग भी सर्वप्रथम इन्द्रियो को जीतने का प्रयत्न करो । अगर तुम प्रारम्भ से इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करोगे तो क्रमश. मुक्ति भी प्राप्त कर सकोगे । परम्परा से मिलने वाले फल को प्राप्त करने के लिए सब से पहले प्रारम्भिक कार्य करना चाहिए ।

किसान को फल तो बाद में प्राप्त होता है, पर बीज के आरोपण करने का कार्य इसे पहले ही करना पडता है। अगर वह प्राथमिक कार्य–बीज का आरोपण न करे तो धान्य का लाभ उसे कैसे हो सकता है? इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विषयलालसा पर विजय पाना आवश्यक है। अगर विषयलालसा जीत ली जाये और चचलता का त्याग कर जीवन में अनुकम्पा उतारी जाये तो आत्मा का कल्याण हो और मुक्ति का मार्ग भी खुल जाये।



तीसवां बोल

अप्रतिबद्धता

उनतीसवे बोल मे सुखशय्या अथवा सुख साता के सम्बन्ध मे काफी विचार किया जा चुका है । अब यह विचार करना है कि सुखशय्या पर कौन सो सकता है या सुखसातापूर्वक कौन रह सकता है ? जिस व्यक्ति मे विषय-लोलुपता नही है और जिसमे प्रतिबद्धता अर्थात् आसक्ति नही है, वही व्यक्ति सुखशय्या पर सो सकता है । अतएव गौतम स्वामी भगवान् से यह प्रश्न करते हैं कि अप्रतिबद्धता अर्थात् अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न—अपडिबद्धयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अपडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेण जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया वा राओ वा असज्जमाणे अपडिबद्धे आवि विहरइ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—अनासक्ति से जीव नि सग अर्थात् राग-द्वेष-ममत्व से रहित होता है, और नि सग होने से उसका चित्त दिन-रात धर्मध्यान मे एकाग्र रहता है और एकाग्र होने से वह अनासक्त होकर अप्रतिबद्ध विचरता है ।

व्याख्यान

भगवान् के इस कथन का अर्थ करते हुए टीकाकार कहते हैं कि साधु मासकल्पादि से अधिक किसी स्थान पर नही रहता । वह अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है। सच्चा साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी प्रकार का प्रतिबध नही रखता । 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार द्रव्य से, 'यह क्षेत्र मेरा है' इस प्रकार क्षेत्र से, कालमर्यादा का उल्लघन करके रहने मे काल से और किसी के प्रति मन मे राग-द्वेष रखकर भाव से, साधु प्रतिबध नही रखता । इस प्रकार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी प्रतिवन्धो से रहित होकर अनासक्त-अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है ।

टीकाकार ने तो मूल सूत्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है, परन्तु यह बात भलीभाति हृदय मे उतारने के लिए उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है ।

सामान्य रूप से तो अप्रतिबद्धता बहुत ही मामूली सी बात मालूम होती है, परन्तु गहरा उतर कर विचार किया जाये तो अप्रबिद्धता शब्द मे और उसके भाव मे गूढ अर्थ छिपा है । अप्रतिबद्धता का अर्थ है, किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति न रखना । जो व्यक्ति पकज के समान

तीसवां बोल

अप्रतिबद्धता

उनतीसवे बोल मे सुखशय्या अथवा सुख साता के सम्बन्ध मे काफी विचार किया जा चुका है । अब यह विचार करना है कि सुखशय्या पर कौन सो सकता है या सुखसातापूर्वक कौन रह सकता है ? जिस व्यक्ति मे विषय-लोलुपता नही है और जिसमे प्रतिबद्धता अर्थात् आसक्ति नही है, वही व्यक्ति सुखशय्या पर सो सकता है । अतएव गौतम स्वामी भगवान् से यह प्रश्न करते हैं कि अप्रतिबद्धता अर्थात् अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न—अपडिबद्धयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अपडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेण जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया वा राम्रो वा असज्जमाणे अपडिबद्धे आवि विहरइ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—अनासक्ति से जीव नि.सग अर्थात् राग-द्वेष-ममत्व से रहित होता है, और नि सग होने से उसका चित्त दिन-रात धर्मध्यान मे एकाग्र रहता है और एकाग्र होने से वह अनासक्त होकर अप्रतिबद्ध विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् के इस कथन का अर्थ करते हुए टीकाकार कहते है कि साधु मासकल्पादि से अधिक किसी स्थान पर नही रहता। वह अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है। सच्चा साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी प्रकार का प्रतिबध नही रखता। 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार द्रव्य से, 'यह क्षेत्र मेरा है' इस प्रकार क्षेत्र से, कालमर्यादा का उल्लघन करके रहने मे काल से और किसी के प्रति मन मे राग-द्वेष रखकर भाव से, साधु प्रतिबध नही रखता। इस प्रकार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी प्रतिबन्धो से रहित होकर अनासक्त-अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है।

टीकाकार ने तो मूल सूत्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है, परन्तु यह बात भलीभाति हृदय मे उतारने के लिए उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

सामान्य रूप से तो अप्रतिबद्धता बहुत ही मामूली सी बात मालूम होती है, परन्तु गहरा उतर कर विचार किया जाये तो अप्रबिद्धता शब्द मे और उसके भाव मे गूढ अर्थ छिपा है। अप्रतिबद्धता का अर्थ है, किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति न रखना। जो व्यक्ति पकज के समान

जगत् के समस्त पदार्थों से अलिप्त रहता है, वह अप्रतिबद्ध या अनासक्त कहलाता है। पंकज अर्थात् कीचड में उत्पन्न होने वाला कमल। कमल कीचड में पैदा होकर भी कीचड़ से अलिप्त रहता है। अगर कमल कीचड से प्रतिबद्ध हो जाये तो उसका विकास ही न हो - वह मड जाये। इसी प्रकार वस्तु के ससर्ग से उत्पन्न होने वाले प्रतिबध से आत्मा का विकास रुक जाता है और जब आत्मा अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है तो उसका अधिकाधिक विकास होता है।

शास्त्र के इस कथन से तुम अपने विषय में विचार कर सकते हो कि तुम्हे यह मनुष्य जन्म किस प्रकार मिला है और किस प्रकार इसका सदुपयोग करना चाहिए? विचार करो कि यह मनुष्यभव तुम्हे प्रतिबन्ध को मजबूत करने के लिए मिला है या प्रतिबन्ध तोडने के लिए मिला है? श्री सूत्रकृताग सूत्र मे इस विषय मे कहा है—

जेसिं कुले समुप्पण्णे जेसिं वा सवसे नरे।
ममाइ लुप्पइ बाले अन्नमन्नेणं मुच्छिए॥

— सु. १–अ. १–उ १–गा. ४।

इस सूत्र के अनुसार आत्मा जिस कुल मे उत्पन्न होता है अथवा जिसके साथ निवास करता है, उसी के साथ ममत्व उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ममता उत्पन्न होने के दो कारण हैं—एक जन्म और दूसरा सहवास। तात्पर्य यह है कि एक तो जन्मजनित स्नेह उत्पन्न होता है और सगजनित। यह दोनो प्रकार के स्नेह–ममत्व के कारण हैं। शास्त्र कहता है, दोनो प्रकार के स्नेह से उत्पन्न होने वाला ममत्व आत्मा के लिए बधनकारक है। आत्मा अजर-अमर

है। उसका कोई बधन होना ही नही चाहिए।

ज्ञानीजन कहते हैं- हे जीव ! तू इस बात का विचार कर कि तू इस संसार मे बन्धन तोड़ने आया है या बन्धनो मे बन्धने के लिए आया है? जेलखाने मे कैदी बेडी पहनता है सो सजा कम करने के लिए या बढाने के लिए ? इसी प्रकार हे जीव ! तू ससार रूपी इस जेलखाने मे आया है और कुल तथा पत्नी आदि की बेडी तुझे पहनाई गई है। अब तू इस बेडी के बन्धन से छूटना चाहता है या अधिक बन्धना चाहता है ? अरे ! यह मनुष्यजीवन बेडी काटने के लिए मिला है! और बार-बार यह सुअवसर मिलना कठिन है। इस आत्मा को मनुष्यजन्म का कैसा दुर्लभ अवसर मिला है, इस सम्बन्ध मे श्रीउतराध्ययनसूत्र मे कहा है —

कम्माण तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइओ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययति मणुस्सय ॥

—उत्त०—३-७।

इस गाथा का भाव यह है कि—हे आत्मा ! तू किन्हीं प्रधान-प्रशस्त कर्मों के कारण ही धीरे धीरे यह स्थिति प्राप्त कर सका है। अगर प्रधान कर्म न होते तो गर्भ में जीवित रहना ही कितना कठिन है, यह विचार कर देख। तेरे साथ ही दूसरे नौ लाख प्राणी जन्मे थे मगर उन सब मे से तू ही अकेला जीवित बच सका। अगर तुझे पुण्य का योग न मिला होता तो तेरी भी वही दशा होती जो तेरे नौ लाख साथियो की हुई। तू भी मर कर समाप्त हो जाता। केवल पुण्य के प्रभाव से ही तू बच पाया है।

प्रश्न किया जा सकता है कि नौ लाख जीव किसे

प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न के सम्बन्ध मे, जावरा में एक डाक्टर के साथ मेरी वातचीत हुई थी । डाक्टर ने कहा था कि शुक्र और शोणित को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखा जाये तो उसमे अनेक कीडे दिखाई देते है । यह तो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने की बात हुई । परन्तु अपने को तो भगवान् पर अटल विश्वास है । अतएव हमे मानना चाहिए कि उनका कथन सत्य ही है । भगवान् कह गये हैं कि हमारे साथ नौ लाख सज्ञी जीव उत्पन्न हुए थे, मगर वे नष्ट हो गए और मैं पुण्य के प्रभाव से वच गया । इस प्रकार प्रधान-शुभ कर्म के प्रताप से ही यह मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है ।

बडी कठिनाई से मनुष्यजन्म प्राप्त होता है । इस कारण उसका दुरुपयोग न करने के लिए जैनशास्त्रों मे बार-म्बार उपदेश दिया गया है । अन्य दर्शन वाले भी मनुष्य-जन्म को उत्तम और दुर्लभ मानते हैं । ऐसा दुर्लभ मनुष्य-जन्म अपने को सहज ही मिल गया है तो किस प्रकार इसे सफल बनाना चाहिए, यह विचारणीय है। मनुष्यजन्म द्वारा ससारबन्धन को सुदृढ करना चाहिए या तोडना चाहिए ? अगर कोई कैदी अपनी कारागार की अवधि बढाए ता वह मूर्ख कहा जायगा, मगर तुम क्या कर रहे हो ? इस शरीर मे तथा ससार मे रहना तो एक प्रकार के कारागार में रहना है । जैसे कैदी कारागार मे से निकलने की इच्छा रखता है और उसी के अनुसार वर्ताव करता है, इसी प्रकार तुम ससार रूपी कारागार से निकलने की भावना करो और वैसा ही वर्ताव करो । इस मानव भव मे अगर ससार-कारागार से मुक्त होने की चेष्टा न की तो फिर कब

करोगे ? बडी ही कठिनाई से यह जन्म मिला है । फिर भी ससार के बन्धनो से छुटकारा पाने के लिए इसका सदुपयोग न करके बन्धनो को मजबूत करने मे दुरुपयोग करना कितनी बड़ी मूर्खता है । भक्त तुकाराम ने इस विषय मे कहा है—

अनन्त जन्म जरी केल्या तपराशी तरी हान पवसी मानव देह ।
ऐसा हा निदान लागेला सि हाथी त्याची केली माटी भाग्यहीन ।
उत्तमाचा सार वेदाचा भडार जया ने पवित्रे तीर्थे होति ।
म्हणे तुकिया बन्धु आणी उपमा नाही या तरे जन्मी द्य वयासी ।

भक्त तुकाराम कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्य-जन्म मिलने पर भी कितने ही भाग्यहीन लोग, मनुष्य जन्म का मूल्य वैसा ही आकते हैं जैसा मूर्ख मनुष्य हीरा की कीमत पत्थर की तरह आंकता है । अभागे लोग मनुष्यजीवन का ठीक मूल्य नही आक सकते । मनुष्य, फिर भले ही वह चोर ही क्यो न रहा हो, मनुष्यजन्म का सदुपयोग करके अपना कल्याण कर सकता है । इसके विपरीत, जो मनुष्यजीवन का दुरुपयोग करता है वह चाहे चक्रवर्ती ही क्यो न हो, तब भी ससार के बन्धनो मे बन्धता है । अतएव मनुष्यजन्म का सदुपयोग ऐसे कार्यों मे करना चाहिए जिससे सासारिक बन्धनो का विनाश हो ।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे, दशवे अध्याय मे कहा है—

वणस्सइकायमइगम्रो उक्कोसं जीवो उ सवसे ।
कालमणंतदुरंतयं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

इस गाथा का भावार्थ यह है कि हे गौतम ! अनन्त दुर्गम काल व्यतीत हो जाने पर यह मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ

है। इस कथन पर गम्भीर विचार करने से ज्ञात होता है कि अनन्त भवो तक तप करते रहने पर भी यह मनुष्य शरीर किसी को मिलता है और किसी को नही भी मिलता। अनन्त एकेन्द्रिय जीव ऐसे मौजूद है जिन्हें अभी तक द्वीन्द्रिय अवस्था तक प्राप्त नही हो सकी। परन्तु हमे अपने सत्कार्य के प्रताप से मनुष्यजन्म मिला है । इस विषय में तुलसीदास ने कहा है—

> चतुराई चूल्हे पड़ो, धिग धिग पड़ो आचार ।
> तुलसी हरि के भजन बिन, चारो वर्ण चमार ॥

अर्थात् जो व्यक्ति, चाहे वह उच्च कुल मे जन्मा हो या नीच कुल मे उत्पन्न हुआ हो, अगर परमात्मा का भजन नही करता तो वह चमार के समान है ।

तुलसीदासजी के इस कथन पर तुम कह सकते हो कि ब्राह्मण चमार कैसे हो सकता है ? अथवा हम चमार कैसे बन सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर मे सब से पहले यही कहना है कि चमार क्या करता है, सो देखो। चमार चमडे को पकाता है, रंगता है, साफ करता है, और फिर जूता बनाकर तुम्हारे सामने रख देता है । अब तुम परमात्मा का भजन न करके क्या करते हो, सो विचार करो । तुम तेल और साबुन कहा मलते हो ? शरीर पर ही तेल-साबुन लगाते हो न ? यह शरीर क्या है ? चमडा ही । चमार जो चमडा तैयार करता है, उससे दूसरो की रक्षा भी होती है और वह जो कुछ करता है, दूसरो की रक्षा के लिए करता है । मगर तुम्हारे इस शरीर के चमडे से दूसरो का क्या हित होता है ? जो चमार दूसरो के लिए श्रम करता है,

और स्वय श्रम करके दूसरो का हित करता है, उसे तो आप नीच समझते है और अपने आपको ऊँचा मानते हैं ! तुम अपने और चमार के कार्यों की तुलना करो तो पता चलेगा कि चमार क्या बुरे कार्य करता है और तुम क्या अच्छे कार्य करते हो ! अतएव परमात्मा का भजन करो । सिर्फ शरीर पर तेल–साबुन लगाने मे ही मत लगे रहो । यदि तुम शरीर पर तेल–फुलेल लगाने मे ही लगे रहे और परमात्मा का भजन न किया तो कैसे कहा जायेगा कि तुम चमार से अच्छे हो ? तुम्हे यह दुर्लभ मनुष्यजन्म मिला है सो इसका सदुपयोग करो । इस मनुष्यशरीर द्वारा आत्मा परमात्मा के शरण मे जा सकता है । परमात्मा इस शरीर के लिए जितना सन्निकट है, उतना अन्य किसी भी देह के लिए सन्निकट नही है । ऐसा होनें पर भी तुम मनुष्य–शरीर का कैसा दुरुपयोग करते हो, इस बात का विचार करो । कहा भी है—

दया और धर्म के प्रताप कोटवाल भयो,
अब नही साधु की सगति सुहात है ।
रात दिन करे मनसूब धन बाधवे के,
आयु घटी जात जाकी चित्त नहीं चाह है ।
हीरन को छाड़ि छाड़ि कांचन को नग लेत,
अ,ने ही हाथ देखो आप खोटा खात है ।
ऋषीजी कहत हुडी और की सिकारत है,
अपनी हुडी के दाम रीते रह जात है ।।

अर्थात्—यह मनुष्य शरीर किसके प्रताप से मिला है? क्या कोई मनुष्य शरीर का एक भी अग बना सकता है ?

वादशाह प्रसन्न हो जाये तो कोहीनूर हीरा तो दे सकता है, मगर आँख का हीरा अर्थात् आँख का तेज चला गया हो तो वह नही दे सकता। विचार करो कि ऐसी तेजस्वी आख तुम्हे किसके प्रताप से मिली है ? वादशाह के द्वारा दिये हुए कोहीनूर हीरे को कोई फोडने लगे तो वादशाह उस पर नाराज होगा या नही ? अगर तुम अपनी आँखों का, जिसका मूल्य कोहीनूर हीरे की अपेक्षा भी वहुत अधिक है, परस्त्री या परपुरुप को दुर्भावना से देखनें मे दुरुपयोग करो तो क्या परमात्मा तुम से प्रसन्न होगा ? अगर तुम परमात्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो अपनी आखो का सदुपयोग करो। ससार–वन्धन से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य शरीर का सदुपयोग करना चाहिए ।

इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य शरीर अप्रतिबद्ध–अनासक्त होने के लिए ही प्राप्त हुआ है । कहा जा सकता है कि अप्रतिवद्ध रहने से हमारे घर का और हमारी जाति का काम कैसे चल सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानीजन यह देते है कि किसी भी वस्तु पर जितना ममत्व रखोगे उतना ही दु ख वढेगा । अतएव ममत्व भाव जितना कम हो, उतना ही भला है । साधारणतया प्रतिवन्ध का अर्थ वस्तु का दुरुपयोग है और अप्रतिबन्ध का अर्थ वस्तु का सदुपयोग है । उदाहरणार्थ –आँख देखने के लिए और कान सुनने के लिए प्राप्त हुए हैं । परन्तु आँख से क्या देखना चाहिए और कान से क्या सुनना चाहिए, इस सवन्ध मे विवेक की आवश्यकता है । आँख परस्त्री पर कुदृष्टि डालने के लिए और कान पराई निन्दा सुनने के लिए नही मिले है । फिर भी आँख और कान का सदुपयोग किया

जाये तो वह अप्रतिबन्ध है । जो मनुष्य आँख और कान का मूल्य समझता होगा वह उनका दुरुपयोग कदापि नही करेगा । शास्त्रकारो का कथन है कि इन्द्रियो को और मन को विपरित कार्यों से निवृत्त करके सत्कार्यों मे प्रवृत्त करना अप्रतिबन्ध है । जो पुरुष प्रतिबन्ध से निवृत्त होकर अप्रतिबन्ध दशा मे विचरता है, वह अपनी आतमा का कल्याण कर सकता है ।

आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए अप्रतिबद्ध होने की आवश्यकता है और अप्रतिबद्ध होने के लिए सग का त्याग करने की आवश्यकता है । सग दो प्रकार के हैं । एक सग तो आत्मा को अधोगति मे ले जाता है और दूसरा सग ऊर्ध्वगति मे पहुचाता है । यहा जिस सग के त्याग करने के लिए कहा है वह अधोगति मे ले जाने वाला है । प्रश्न हो सकता है कि अधोगति मे ले जाने वाला सग कौन-सा है और ऊर्ध्वगति मे ले जाने वाला कौम-सा है ? इस प्रश्न के उत्तर मे गीता मे कहा है. –

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
सगात्संजायते काम· कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

अर्थात्–जिस सग के कारण विषयवासना मे प्रवृत्ति होती है वह सग अधोगति की ओर ले जाता है । क्योकि विषयवासना मे किसी प्रकार की विघ्नबाधा उपस्थित होने पर क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है । राम महापुरुष थे, फिर भी रावण को उन पर क्रोध हुआ था, क्योकि सीता

को अपनी बनाने मे राम बाधक थे । इसी प्रकार मणिरथ युगवाहु का सगा भाई था, फिर भी विषयवासना के कारण क्रुद्ध होकर उसने युगवाहु को मार डाला था। अतएव जिस सगति से क्रोध और कामवासना की उत्पत्ति होती हो, उस सगति का त्याग कर देना चाहिए ।

कुसगति मे अनेक बुराइया है । वडे-वडे मनुष्य भी सग के कारण खराव हो जाते हैं । इसी कारण नि.सग वनने के लिए कहा गया है। नि सग बनने के लिए अप्रतिवद्ध होना आवश्यक है । आत्मा को अप्रतिवद्ध बनना ही चाहिए किन्तु आत्मा मे दुर्गुणो की ऐसी वासना घर कर बैठी है कि उस वासना के कारण आत्मा अपनी हानि जानते हुए भी हानिकारक कार्यों मे ही फँसता जाता है । इसी कारण भक्तजन कहते है 'हे प्रभो ! मुझ सरीखा मूर्ख और कौन होगा ? कोई कह सकता है कि तुम मूर्ख नही हो, मूर्ख तो मछली और पतग हैं जो अपने आप ही जाल मे जा फँसते है और जलकर मर जाते हैं । परन्तु यह कथन भूलभरा है । मछली और पतग भी मेरे समान मूर्ख नही हैं । मेरी मूर्खता तो इनकी मूर्खता से भी वहुत वडी है। अगर मछली को पता हो कि इस आटे के पीछे काटा है और वह काटा मेरे लिए प्राणघातक है तो मछली उस काटे मे कदापि न फँसे और अपने प्राणो का नाश न करे। परन्तु मछली तो उसे अपना भक्ष्य समझ कर ही खाने जाती है और रसलोलुपता के कारण फस जाती है । इसी प्रकार अगर पतग को पता होता कि दीपक मे अग्नि है और उस अग्नि से मैं मर जाऊँगा तो वह दीपक पर मोहित नही होता । परन्तु पतग दीपक को अग्निरूप नही समझता । वह तो सुन्दर

रूप देखकर ही उस पर गिरता है और अपने प्राणो की आहुति दे देता है। इस प्रकार मछली और पतग तो अन-जान मे ही विषयभोग मे फँसते हैं परन्तु मैं तो जान-बूझ कर विषयभोग मे फँस जाता हू और इस कारण मैं उनको अपेक्षा अधिक मूर्ख हू। मैं जानता हू कि विषयभोग हानि-कारक है, फिर भी मैं विषयभोगो मे प्रवृत्ति करता हू। अतएव दीपक लेकर कूप मे गिरने वला मुझ-सा मूर्ख और कौन होगा।

विषयसुख मे अनेक हानिया है और इसी कारण भग-वान् कहते हैं—'नि सग वनो।' यह बात कहने मे तो बहुत छोटी है और सरल है किन्तु उसका आचरण करना बहुत कठिन है। कहने और करने मे बहुत अन्तर होता है। अतएव अप्रतिबद्ध और नि संग वनने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है अगर ठीक प्रयत्न किया तो आदर्श तक पहुचा जा सकता है।

तुम्हारे पूर्वज तुम्हारे लिए जो उच्च आदर्श उपस्थित कर गये हैं, उसी आदर्श का अनुसरण करो। मगर आज-कल तो गौराग गुरुओ के सग से ऐसा समझा जाने लगा है कि मानो पूर्वजो मे वुद्धि ही नही थी और वे मूर्ख ही थे। तुम्हारे पूर्वजो की ओर से तुम्हारे लिए त्याग का जो आदर्श रखा गया है वह अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। लेकिन तुम आदर्श की ओर ध्यान नही देते और इधर-उधर भटकते फिरते हो! तुम आध्यात्मिक कार्यों मे गति ही नही करते। सिर्फ आधिभौतिक कामो मै फँसे रहते हो। यद्यपि गृहस्थ होने के कारण तुम्हे आधिभौतिक कार्यों की सहायता

लेनी पडती है, यह स्वाभाविक है, परन्तु इतना ध्यान तो रखना ही चाहिए कि जो आधिभौतिक वस्तु नरक के मार्ग में ले जाने वाली है, वह तुम्हारे काम की नही । अतएव आधिभौतिक कार्यों के साथ अध्यात्मिक कार्य भी अवश्य करने चाहिए ।

कहने का आशय यह है कि परमात्मा के शरण में जाने के लिए सग का त्याग करो । विषयसुख के सग से क्रोध उत्पन्न होने पर हित-अहित का भान नही रहता । सुना है, मेवाड मे एक पुरुष क्रोव के आवेश मे आकर अपनी पत्नी को निर्दयतापूर्वक मारने लगा । यह देखकर उसकी लडकी चिल्लाने लगी—'मेरे पिता, माँ को मार रहे है । कोई दौडो, बचाओ !' लडकी की यह चिल्लाहट सुनकर पिता ने उसके दोनो पैर पकडे और पत्थर पर पछाड दी, नतीजा यह हुआ कि बेचारी लडकी तत्काल मर गई ! लडकी को मार डालने के बाद उसने पत्नी के भी प्राण ले लिए और अन्त मे आत्मघात करके वह स्वय भी मर गया। क्रोध का परिणाम कितना भयकर होता है, यह बात इसी उदाहरण से समझी जा सकती है । अतएव क्रोध से बचने के लिए सग का त्याग करना चाहिए । विषयलालसा का सग होगा तो क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है । क्रोध मे सम्मोह उत्पन्न होता है और सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है । स्मृतिभ्रश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश मे आप स्वय नष्ट हो जाता है अर्थात् नीच गति प्राप्त करता है । इसलिए अपने पूर्वजो के उच्च आदर्श को दृष्टि के सामने रखकर अपने जीवन को भी आदर्श के अनुसार उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । दूसरो की

बातों में फंस कर अपने पूर्वजों को धिक्कारो मत । उनके महान् आदर्श को सन्मुख रखो और जीवन को उच्च बनाओ। इसी प्रयत्न मे कल्याण है ।

तुम लोग धार्मिक होने के कारण कदाचित् गौरांग गुरुओ के प्रभाव से बच सके होगे । परन्तु इस बात का तो खयाल रखते हो कि तुम्हारी सतान पर उनका कैसा प्रभाव पड रहा है ? कही ऐसा तो नही कि बकरा निकालने गये और ऊँट घुस पडा ? तुम्हारी सतान सुधार के नाम पर कुधार तो नही करती ? अगर तुम्हारी सतान आधिभौतिक मार्ग की ओर झुक गई हो तो उसे अध्यात्म की ओर मोडना तुम्हारा कर्त्तव्य है ।

कहा जा सकता है कि आजकल की सतति को आध्यात्मिक बात समझाना कठिन है। इस सम्बन्ध में यही कहना है कि बालक जब कुनाइन या और कोई कडवी दवा नही खाता तो माता कडवी दवा के साथ कोई मीठी चीज खाने को देती है । माता का उद्देश्य मीठी चीज देने का नही होता वरन् कुनाइन या कडवी दवा देने का और रोग मिटाने का होता है । इसी प्रकार तुम लोग भी सतानो मे आध्यात्मिक भाव भरने का उद्देश्य रखो । अगर सीधी तरह आध्यात्मिक भाव नही भरा जा सकता तो आध्यात्मिक भाव रूपी कुनाइन को आधिभौतिक रूपी मीठी चीज के साथ दो। अगर तुम आध्यात्मिक मार्ग की ओर मुडोगे और तुम्हारी सन्तान आधिभौतिकता की ओर अग्रसर होगी तो दोनो के बीच खीचतान होने की सम्भावना रहेगी । अतएव मतभेद और खीचतान पैदा न होने देने के लिए मध्यम मार्ग खोज निकालना चाहिए ।

तुम कह सकते हो—हम ऐसा साहित्य कहा से लायें, जिससे हमारा सतानो–युवको के साथ किसी प्रकार का मत-भेद न हो। इस प्रश्न के समाधान के लिए वृद्धो और युवको को अपने–अपने भीतर समान रूप से आध्यात्मिक सस्कार उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो निश्चित है कि वृद्धो का काम युवको के सहयोग के बिना और युवको का काम वृद्धो के सहयोग बिना नही चल सकता। ऐसी स्थिति मे वृद्धो और युवको दोनो का कार्य बराबर चल सके- ऐसा मध्यम मार्ग खोज निकालना आवश्यक है। इस दिशा मे जितना प्रयत्न किया जाये उतना ही लाभदायक है। अगर तुममे सव के सहयोग से कार्य करने की भावना होगी तो तुम्हारा आत्मा इस विषय मे कोई मार्ग अवश्य ही वता देगा। आत्मा मे सव प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान है, आवश्यकता है भावना की। आत्मा की शक्ति कम नही है। आत्मा मे सिद्ध भगवान् जितनी शक्ति मौजूद है। कहा भी है —

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म–मैल का अन्तरा, बूझै विरला कोय॥
जीव कर्म भिन्न-भिन्न करो, मनुष्य जनम को पाय।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज ध्यान लगाय॥

कच्चे सोने मे और पक्के (शुद्ध) सोने मे जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर जीव और शिव मे है। यद्यपि दोनो सोने है, फिर भी अगर कोई पुरुष शुद्ध सोने को ही सोना माने और कच्चे सोने को सोना न माने तो यह उसकी भूल है। शुद्ध सोने के लिए जो क्रिया की गई है।

वही क्रिया अगर कच्चे सोने को शुद्ध करने के लिए की जाये तो मिट्टी मिला हुआ सोना भी शुद्ध सोने के समान ही हो जायगा। बचपन मे एक धूलधोया के लडके के साथ मेरी मित्रता थी। मैं कई बार उसके घर जाता था। उसके घर जाने से मुझे मालूम हुआ कि धूल मे से सिर्फ सोना ही नही निकलता, सोने के अतिरिक्त और धातुएँ भी निकलती है। वे लोग अपनी वशपरम्परागत क्रिया द्वारा उन धातुओ को अलग-अलग कर डालते है। इसी प्रकार जीव आज कर्मबधन से बद्ध है। परन्तु उसे अगर कर्मरहित बना लिया जाये तो जीव मे और शिव अर्थात् सिद्ध मे कुछ भी अन्तर नहीं रहता। अतएव सिद्धो का स्वरूप समझ कर अपना स्वरूप पहचानो और सिद्ध बनने का प्रयत्न करो इस सम्बन्ध में एक महात्मा ने कहा है:—

अजकुलगत केसरी लहे रे, निजपद सिंह निहार,
तिम प्रभु भकते भवी लहे रे, आत्मस्वरूप संभार,
अजित जिन तारजो रे ॥

इस पद मे एक दृष्टान्त देकर बतलाया गया है कि आत्मा किस प्रकार अपना स्वरूप भूल गया है और किस प्रकार अपने स्वरूप को जान सकता है। इस दृष्टान्त में कहा है— एक सिंहनी बच्चे को जन्म देते ही मर गई। बच्चा छोटा था और निराश्रित था। जगल मे चरता-चरता वह भेडो के झुड मे मिल गया। बच्चा किसी का क्यो न हो, मगर उसे सभी प्यार करते हैं, क्योकि बालक निर्दोष होता है। सिंह का वह बच्चा भी भेडो को प्रिय लगने लगा। भेड़ो का मालिक सोचने लगा कि भेड़ो के साथ

सिह का बच्चा रहे तो अच्छा ही है । यह सोचकर वह बच्चे को दूध पिलाने लगा। शेर का बच्चा भेडो के ससर्ग से अपने आपको भेड ही समझने लगा। वह भेडो के समान ही रहने लगा और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगा । किसी समय शेर की गर्जना सुन पडती तो वह बच्चा भी भयभीत होकर भेडो के साथ भागता। हालाकि सिह का बच्चा स्वय गर्जना करने वाला और भेडो को भगाने वाला था, लेकिन अपना स्वरूप भूल जाने के कारण ही वह भेडो की तरह भयभीत होकर भागता फिरता था ।

एक दिन भेडो के झुन्ड के साथ वह बच्चा जगल मे गया था । वहाँ सिह ने गर्जना की । सिह की गर्जना सुनकर सब भेड भागी । सिह का बच्चा भी साथ ही भागा। भागते–भागते उसने विचार किया – जिस सिह का इतना बहुत डर लगता है, देखे तो सही वह सिह कैसा है ? इस प्रकार विचार कर वह थोडी देर रुका। उसने सिह की ओर देखा और फिर भेडो के साथ भागने लगा। परन्तु सिह का स्वरूप उसके हृदय मे अंकित हो गया। वह सोचने लगा— सिह कितना जबर्दस्त है ! उसका मुख कितना विकराल और उसकी जीभ कैसी लाल है ! और उसकी गर्जना कितनी भयकर है । ऐसे भयानक सिह से डरना स्वाभाविक है ।

किसी दूसरे दिन वह शेर का बच्चा भेडो के साथ नदी मे पानी पीने गया। बकरी और भेड पानी गन्दा करके नही पीती, उन्हे धीरे से निर्मल पानी पीना सुहाता है । भेडो के साथ शेर का बच्चा भी पानी पीने लगा । पानी पीते समय उसका प्रतिबिम्ब पानी मे पडा । अपना प्रति-

बिम्ब देखकर वह सोचने लगा–मेरा स्वरूप तो कुछ निराला ही है। मैं इन भेडो जैसा नही हू। मेरी आकृति भी इन सरीखी नही है। मेरी आकृति तो उस दिन के सिंह से मिलती–जुलती है। मेरा मुख भी वैसा ही है और शरीर भी वैसा ही है। मगर देखू जीभ भी वैसी ही है या नही? उसने अपनी जीभ निकाल कर देखी तो वह भी उस सिंह सरीखी दिखाई दी। सिंह का बच्चा सोचने लगा– मेरा मुँह, मेरा शरीर, मेरी जीभ, मेरी आकृति और मेरी पूंछ वगैरह सब उस शेर के समान हैं। मगर देखना चाहिए कि मेरी आवाज भी शेर सरीखी है या नही? यह सोचकर बच्चे ने गर्जना की। गर्जना सुनते ही भेडे भयभीत होकर भागी। भेड चराने वाला भी भय का मारा भाग खडा हुआ। सब के भाग जाने से सिंह के बच्चे को विश्वास हो गया कि मैं सिंह ही हू, भेड नही हूं।

अब इस शेर के बच्चे को भेड़ो की टोली मे रखा जाये तो क्या वह रहना पसन्द करेगा? नही।

भक्त कहता है—जैसे सिंह का बच्चा भ्रम से भेड के समान बन गया था, किन्तु सिंह को देखकर वह अपने स्वरूप को पहचान सका, इसी प्रकार यह आत्मा भी भ्रम के कारण भेड के समान बन गया है। अगर आत्मा स्थिर होकर परमात्मा का ध्यान धरे तो अपने स्वरूप को पहचान सकता है और परमात्मा के समान बन सकता है। परमात्मा का ध्यान करने के लिए एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाये और यह विचार किया जाये कि मैं कौन हू? कहाँ से आया हू?

कहा जाने वाला हूं ? मैं देह नही, देही हूं, मैं कान नही वरन् कान से काम लेने वाला हू, इत्यादि, तो आत्मज्ञान प्रकट हो सकता है और आत्मज्ञान होने से परमात्मा को पहचाना जा सकता है । आत्मा का स्वरूप जानने का प्रयत्न करो तो सिद्धगति प्राप्त कर सकते हो । तुम्हारे जो बाल बचपन मे काले थे, वे सफेद होकर सूचना दे रहे हैं कि हम तो अपनी गति प्राप्त कर रहे हैं, तुम अपनी गति क्यो नही प्राप्त करते ? इस उपदेश का अर्थ यह नही कि तुम अपना शरीर नष्ट कर डालो । इसका अर्थ यह है कि आत्मा और शरीर को अलग-अलग समझो और यह मानो कि मैं शरीर नही, शरीर मे रहनेवाला आत्मा हू । इस प्रकार देही होने पर भी तुम देह के प्रतिबंध मे पडे हो । इस प्रतिबंध को दूर किये बिना आत्मा सिद्धगति प्राप्त नही कर सकता । अतएव प्रतिबंध दूर करने के लिए तथा आत्मा को अप्रतिबद्ध बनाने के लिए एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करो । एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाएगा । आत्मा का वास्तविक कल्याण अपना स्वरूप समझने मे और परमात्मदशा प्राप्त करने मे ही है ।



एकतीसवां बोल

विविक्त शयनासन

तीसवें बोल मे अप्रतिबद्धता पर विचार किया गया है। जो पुरुष अप्रतिबद्ध होता है या होना चाहता है, वह स्त्री, पशु और नपुसक वाले स्थान में शयन-आसन नही करता। अतएव गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं कि विविक्त शयनासन का सेवन करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न— विवित्त सयणासणसेवणयाएणं भंते जीवे किं जणयई ?

उत्तर— विवित्तसयणासणसेवणयाए ण चारित्तगुत्तिं जणयइ, चरित्तगुत्ते य ण जीवे विवित्ताहारेदृढचरित्ते एगन्त-रए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥३१॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! एकान्त शयन और आसन के सेवन से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर – गौतम ! विविक्त शयनासन से अर्थात् स्त्री आदि के ससर्ग रहित शयन और आसन का सेवन करने से चारित्र की रक्षा होती है, चारित्रशील बनने से जीव आहार सबन्धी आसक्ति त्याग कर चारित्र मे दृढ होता है । इस प्रकार एकान्तप्रिय ओर मोक्ष भाव को प्राप्त जीवात्मा आठो प्रकार के कर्मो के बन्धन से मुक्त होता है ।

व्याख्यान

सूत्रपाठ के सम्बन्ध मे विचार करने से पहले विविक्त शयनासन के अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए ।

विविक्त शब्द का अर्थ है रहित अथवा एकान्त । साधु हो तो स्त्री, पशु और नपुसक से रहित और यदि साध्वी हो तो पुरुष, पशु आदि मे रहित शयन, आसन और उपलक्षण से स्थान का सेवन करना चाहिए ।

शास्त्र मे मुख्य रूप से पुरुषों को लक्ष्य करके उपदेश दिया गया है, और इसी कारण सूत्र पाठ मे साधु को स्त्री, पशु और नपुसक वाले शयन, आसन तथा स्थान का सेवन न करने के लिए कहा गया है । स्त्री, पुरुष और नपुसक वाले शयन, आसन और स्थान मे साधु के ब्रह्मचर्य को भलीभाति रक्षा नही हो सकती ।

साधु को किस उद्देश्य से विविक्त शयन–आसन का सेवन करना चाहिए ? क्या साधु को स्त्री, पशु और नपुसक के साथ किसी किस्म का द्वेष है अथवा किसी प्रकार की अरूचि है ? अगर अरुचि के कारण ही साधु विविक्त शयन–आसन का सेवन करते हो तो अनेक गृहस्थ भी ऐसे

हैं जो क्लेश उत्पन्न होने के कारण स्त्री का मुंह देखना भी पसद नही करते। उदाहरणार्थ—सती अजना पर पवनकुमार क्रुद्ध हो गए थे। अतएव वह अजना का नाम सुनना नही चाहते थे। इतना ही नही, जिस द्वार मे से अजना उनका दर्शन करती थी, वह द्वार भी उन्होने बन्द करवा दिया था। क्या इस प्रकार के बर्त्ताव को विविक्त शयनासन कहा जा सकता है? यदि नही, तो विविक्त शयनासन किसे कहना चाहिए? जब साधुओ को किसी भी प्राणी पर द्वेष नही है, सब जीवो के प्रति समभाव है, और वे स्त्री, पशु और नपुसक आदि को आत्मतुल्य गिनते हैं, तो विविक्त शयनासन का यहाँ क्या अभिप्राय है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधुअ को एकान्त मे रहना चाहिए, क्योकि सब लोगो का चरित्र सरीखा नही होता। अगर साधुओ के लिए एकान्त मे रहने का नियम न हो और वे स्त्री, पशु और नपुसक वाले स्थान मे रहने लगे तो ब्रह्मचर्य का घात होने की सभावना है। हालाकि विजय सेठ और विजया सेठानी एक ही जगह शयन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु यह एक अपवाद है। सभी लोग ऐसे नही हो सकते। अतएव ब्रह्मचर्य सम्बन्धी जो मर्यादा बाधी गई है, उसका पालन करना उचित और आवश्यक है। क्योंकि--

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।

अर्थात्--श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग वैसा ही आचरण करते हैं।

अतएव विजय सेठ और विजया सेठानी के समान

शक्ति होने पर भी मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। मर्यादा का पालन न करने से अन्य लोगो को हानि होने की सभावना रहती है। क्योकि जिनमें ऐसी शक्ति नहीं होती वे भी इस प्रकार के उदाहरण की आड मे ऐसा काम करने लगते हैं और अन्त मे पतित हो जाते है। सभी पृथ्वी के सहारे टिके हैं। आसन आदि होने पर भी आधार तो पृथ्वी का ही है। परन्तु कोई महात्मा अगर अपने लब्धि-बल से पृथ्वी का सहारा लिये विना ही स्थिर रह सकता हो तो उसे अपवाद कहना चाहिए। मगर इस अपवाद का अनुकरण करने वाले दूसरे लोग भी यदि पृथ्वी का सहारा लिए बिना स्थिर रहने का प्रयत्न करें तो वे नीचे गिर जाएँगे। इसी प्रकार कोई सयमी मनुष्य, स्त्री के साथ रहता हुआ भी सयम का पालन करता है, मगर यह अपवाद है और वह सभी के लिए उत्सर्ग मार्ग नही बन सकता। अतएव जहाँ स्त्री, पशु या नपुसक का वास हो, वहाँ नही रहने का नियम सभी के लिए बना दिया गया है।

शास्त्र मे जो उपदेश दिया गया है वह जगद्गुरु का दिया हुआ उपदेश है। जगद्गुरु किसी व्यक्ति-विशेष को ही लक्ष्य करके उपदेश नही देते, वरन् जनसमाज को दृष्टि मे रखकर उपदेश देते हैं। इसलिए यह कहा गया है कि साधु को विविक्त शयनासन का सेवन करना चाहिए।

यह तो हुई विविक्त शयनासन के सेवन की बात। परन्तु विविक्त के सेवन से लाभ क्या होता है? इस विषय में कहा गया है कि विविक्त शयनासन के सेवन से चारित्र की गुप्ति रक्षा होती है।

यह उपदेश ब्रह्मचर्य को दृष्टि मे रखकर ही दिया गया है । अर्थात् यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को एकान्त मे रहना चाहिए ।

ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान में नही रहना चाहिए, जहां स्त्री, पशु या नपुसक रहते हो । यही नही, ब्रह्मचारी को विकार उत्पन्न करने वाला आहार भी नही लेना चाहिए । जिस आहार के सेवन से विकार पैदा होता है वह विकृत आहार कहलाता है । घी, दूध, तेल वगैरह वस्तुएँ विकृत उत्पन्न करती है, अतः उन्हे 'विगय' कहते हैं । शास्त्र में 'विगय' वस्तुओ के त्याग का खास तौर पर उपदेश दिया गया है । निशीथसूत्र मे कहा है: –

'जे भिक्खू आयरिय उवज्झायं अदिन्नंविगयं आहारं तं वा साहिज्जइ ।'

अर्थात्–अगर किसी साधु को विगय अर्थात् विकृत वस्तु लेने की आवश्यकता हो तो उसे आचार्य तथा उपाध्याय की आज्ञा लेकर ही विकृति का आहार करना चाहिए । अगर कोई साधु, आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा लिए बिना ही विकृत उत्पन्न करने वाले पदार्थ स्वय खाता है या दूसरो को खिलाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है तो वह साधु दण्ड का पात्र है ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए तथा स्वास्थ्य की रक्षा करनें के लिए जीभ पर अकुश रखने की बडी आवश्यकता है । जीभ पर अकुश न रहने से अनेक प्रकार को हानियां होती हैं । जीभ पर अकुश रखने वाले मनुष्य को शायद ही कभी वैद्य या डाक्टर के पास जाने की आव-

श्यकता पडती है।

लोगो से पूछा जाये तो वे यही कहेगे कि हम जीने के लिए खाते है। मगर उनकी परीक्षा की जाये तो जीने के लिए खाने वाले बहुत कम निकलेगे । अगर तुम जीने के लिए ही खाते हो तो क्या भोजन करते समय अपने डाक्टर बनकर क्या इस बात का विवेक रखते हो कि कौन-सी वस्तु भक्ष्य और कौन-सी अभक्ष्य है ? किससे स्वास्थ्य का सुधार और किससे स्वास्थ्य का नाश होता है ? अगर तुम भोजन के विषय मे यह विवेक नही रखते तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि तुम जीने के लिए खाते हो? सचमुच ही अगर तुम जीने के लिए खाते हो तो स्वास्थ्य को हानि पहुचाने वाली और जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुएँ कैसे खा सकते हो ? जैसे कोई भी मनुष्य अपरिचित पुरुष को अपने घर मे सहसा स्थान नही देता, उसी प्रकार जिस वस्तु के गुण–दोष का तुम्हे पता नही है उसे अपने पेट मे स्थान नही दे सकते । अगर तुम अपने पेट मे अनजान चीज को ठूस लेते हो तो तुम्हारे पेट को Dinner box (भोजन पेटी) के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

एक विद्वान् का कथन है कि ससार मे खा खा कर जितने लोग मरते हैं, भूख से उतने नही मरते । लोग कठ तक ठूंस–ठूस-कर खाते हैं और फिर डाक्टर की सेवा में जाते है । इस प्रकार ज्यों–ज्यो डाक्टर वढते जाते है त्यो-त्यो रोग वढते जाते हैं । डाक्टरो के वढने से रोगो की सख्या घटी नही है । 'इतनी–सी चीज खाने से क्या हुआ जाता है ? अगर कुछ हो भी गया तो डाक्टर की दवा

लेंगे।' ऐसा विचार कर लोग अधिक खा जाते हैं और फिर बीमार पडते हैं। यह तो पडौसी के भरोसे अपना घर खुला रखने के समान है। आज तो प्राय. ऐसा देखा या सुना जाता है कि जो मनुष्य जुदा-जुदा प्रकार की जितनी खाद्य चीजें खाता है, वह उतना ही बडा आदमी कहलाता है। मगर शास्त्र कहता है कि जो जितना ज्यादा त्याग करता है वह उतना ही बडा पुरुष है। शास्त्र मे आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बारह करोड स्वर्ण मोहरो का तथा चालीस हजार गायो का स्वामी होते हुए भी उसने परिमित द्रव्य खाने-पीने की ही मर्यादा बाँधी थी। इस प्रकार शास्त्र की दृष्टि से जो पुरुष खानपान मे जितना सयम रखता है, वह उतना ही महान् गिना जाता है।

जीभ पर अकुश रखने से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। तुम लोगो को जैसा और जितना खाना-पीना मिलता है, वैसा और उतना किसानो को नही मिलता, फिर भी किसी समय तुम्हारी और किसान की कुश्ती हो तो कौन जीतेगा ? यह तो स्वय तुम्ही कहोगे कि किसान हमारी अपेक्षा अधिक स्वस्थ और बलवान् है।

इस प्रकार अधिक खाने से स्वास्थ्य सुधरता नही, बिगडता है। विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य की हानि होती है और साथ ही चारित्र की भी हानि होती है। इसीलिए भगवान् ने कहा है कि जिस वस्तु के खाने से विकार उत्पन्न होता हो वह वस्तु साधु को नही खानी चाहिए। साधु को तो वही और उतना ही भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर की रक्षा हो सकती हो! शरीर को बढ़ाने के लिए अर्थात्

स्वाद के लिए साधु को भोजन करना उचित नहीं है।

कहा जा सकता है कि स्वाद के लिए कोई चीज न खाना कैसे सभव हो सकता है? खट्टी या मीठी चीज खाने से खट्टा या मीठा स्वाद आये बिना नहीं रह सकता। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि, कल्पना करो, तुम्हें वैद्य ने शहद के साथ खाने के लिए कोई दवा दी। तुमने शहद के साथ दवा खाई। शहद तो अपना स्वाद देता ही है, परन्तु तुमने शहद स्वाद के लिए खाया है या दवा के लिए खाया है? तुमने दवा सेवन करने के लिए ही शहद खाया है। इसी प्रकार साधुओं का भोजन करने का मुख्य उद्देश्य शरीर को टिकाए रखना है, स्वाद लेना नहीं।

तुम लोग खाने मे जितना आनन्द मानते हो, उससे अनन्त गुना आनन्द साधुजन सयम मे मानते हैं। यही कारण है कि वे खाने के लिए सयम नही गवाते। उनकी दृष्टि मे खाने-पीने की अपेक्षा सयम की कीमत अनेकगुनी अधिक है। साधुजन सयम में और चारित्रपालन में सावधान रहते हैं और मुक्ति मे आनन्द मानते हैं।

मान लो, तुम्हारे पास एक मूल्यवान् हीरा है। तुम्हें विश्वास है कि इस हीरा की कीमत से तुम अपने सब सकट हटा सकते हो। ऐसी दशा मे क्या तुम वह हीरा एक मुट्ठी चनों मे बेच दोगे? नही। इसी प्रकार जिन मुनियो को यह दृढ विश्वास हो गया है कि सयम समस्त सकटो से छुटकारा दिलाने वाला है और आठ कर्मों को नष्ट कर मुक्ति दिलाने वाला है, वे मुनि क्या खानपान के लिए सयम का परित्याग कर सकते हैं? कदापि नही।

कहने का आशय यह है विविक्त शयनासन का सेवन करने से चारित्र की गुप्ति अर्थात् रक्षा होती है। चारित्र की रक्षा होने से आहार सम्बन्धी आसक्ति का नाश हो जाता है और चारित्रपालन मे दृढता आती है। इस प्रकार सग रहित शयन-आसन का सेवन करने वाला तथा मोक्ष-भाव को प्राप्त जीवात्मा आठो प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है।

एक भाई ने अभी प्रश्न किया है। वे कहते हैं—मैंने एक वक्ता से यह सुना है कि सासारिक कर्म नष्ट हो जाते हैं और जैनशास्त्र कहता है कि कृत कर्मों का नाश नही होता। इन दोनो मे से कौन-सी बात सही है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कर्म जिस प्रकार किया जाता है, वह उसी प्रकार भोगना पड़ता होता तो भगवान् यह क्यो कहते कि विविक्त शयनसन का सेवन करने वाला आठ कर्मों की गाठ तोड सकता है? किये हुए कर्मों का भोगना अनिवार्य होता तो इस कथन का क्या आशय है? इसके अतिरिक्त अगर कर्मों की निर्जरा न हो सकती हो तो फिर तप किसलिए किया जाता? इसमे कर्मों की निर्जरा होना सिद्ध होता है।

अब दूसरा प्रश्न यह खडा होता है कि तप आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा हो जाती है तो फिर 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्मों से बिना भोगे छुटकारा नही मिलता, यह क्यो कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दोनो बातें सही हैं। मैंने एक कविता सुनी है—

कर्मरेख नहीं मिटे करो कोई लाखो चतुराई ।

इस प्रकार एक ओर तो यह कहा जाता है कि कृत-कर्म भोगने ही पडते है और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है । इस प्रकार परस्पर विरोधी दो बाते सुनने से सदेह उत्पन्न होता है। ऐसा होना स्वाभाविक है । परन्तु यह विषय अगर भलीभाँति समझ लिया जाये तो सशय को कोई स्थान नही रह जाता ।

शा त्र मे स्पर्शबन्ध, बद्धबन्ध, निधत्तबन्ध और निकाचितबन्ध के भेद से कर्मों का बन्ध चार प्रकार का बतलाया गया है । पहला स्पर्शबन्ध सुइयो के ढेर के समान होता है। सुइयो का ढेर करने मे कुछ देर लगती है पर बिखरने में देर नही लगती, क्योकि सुइयो का आपस मे स्पर्शमात्र हुआ है - बन्ध नही हुआ । दूसरा बद्धबन्ध है । बन्ध तो होता है मगर निर्जरा होने मे देर नही लगती । अर्थात् सुइयो के उस ढेर को डोरे से बाँध दिया जाता है मगर वह डोरा सरलता से हटाया जा सकता है, और सुइयो का ढेर फिर जल्दी से बिखर जाता है । इस प्रकार का बन्ध बद्धबन्ध कहलाता है , तीसरा निधत्तबन्ध है । यह बन्ध कुछ मजबूत होता है जैसे उसी सुइयो के ढेर को लोहे के तार से मजबूत बाध दिया जाये । ऐसा करने पर सुइयाँ उस ढेर से निकल सकती हैं और लोहे का तार भी छूट सकता है । अलबत्ता लोहे का तार छुटाने मे कुछ कठिनाई अवश्य होती है । चौथा निकाचितबन्ध है । यह बन्ध बहुत गाढ होता है । जैसे सुइयो का ढेर आग मे तपा लिया जावे और घन से पीट-पीट कर उन्हे एकमेक कर दिया जाये । इस प्रकार

कर्म का बन्ध चार प्रकार का है। इनमें से तीन प्रकार से बन्धे हुए की पूरी तरह निर्जरा होती है। निकाचित कर्म की निर्जरा तो होती है किन्तु उसमे स्थिति और रसघात होता है। जैसे पहले जमाने में सुई बनाने मे विलम्ब लगता था, मगर अब विज्ञान की वृद्धि हो जाने के कारण विलम्ब नही लगता। इसी प्रकार निकाचित कर्म भोगने तो पडते हैं मगर थोडे समय मे उनका भोग हो जाता है। निकाचित कर्म स्थिति और रस से तो कम किये जा सकते है, परन्तु प्रकृति और प्रदेश से कम नही हो सकते। इस प्रकार कर्मों की निर्जरा का होना भी सत्य है और भोगे बिना छुटकारा न होना भी सत्य है। शास्त्र का कथन सापेक्ष है और सापेक्ष दृष्टि मे दोनो बाते सत्य है।

कर्म भोगने पडते हैं, यह सुनकर किसी को घबराजाने की जरूरत नही है। कर्मों को भोगना अर्थात् पाप का नाश करना। अतएव कर्मो को भोग कर पाप से मुक्त होने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। हा, ऐसा नही होना चाहिए कि पहले तो पपकारी प्रवृत्ति की जाये और फिर उसका प्रायश्चित्त किया जाये। यह तो वैसी चेष्टा है कि पहले तो चोर को घर मे जानबूझ कर घुसने दिया जाये और फिर बाहर निकालने का प्रयास किया जाये। जानबूझ कर अपने घर में चोर को घुसने देना मूर्खता है। लोग घर मे चोर न घुसने देने के लिए सावधानी रखते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी ऐसी सावधानी रखनी पडती है कि पापकार्य न होने पावे। सावधानी रखने पर भी अगर पापकार्य हो जाये तो उसका प्रायश्चित्त करके ऐसा

प्रयत्न करना चाहिए कि भविष्य में फिर पापकार्य न हो सके । इस विषय मे तुमसे और कुछ न बन सके तो जब माथे पर दु ख आ पडे तो कम से कम इतना अवश्य मानो कि जो कुछ होता है, भले के लिए ही होता है ।

कहने का आशय यह है कि जो दु ख होने वाला है, वह तो होगा ही । परन्तु उस दु.ख के समय जो कुछ होता है सो भले के लिए ही होता है, ऐसा समझ कर दु.ख मे भी सुख मानो । इस प्रकार दु ख के समय सुख समझने से आठ कर्मो की गाठ ढीली होती है । दु.ख भोगते समय हाय-तोबा मचाने से अधिक दु ख होता है । अतएव दु ख भोगते समय घबराना उचित नही है । चित्त को प्रसन्न रखकर परमात्मा का शरण ग्रहण करने से आत्मा का कल्याण अवश्य हो सकता है ।



बत्तीसवाँ बोल

विनिवर्त्तना



विविक्त शयन और आसन का सेवन करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम विषयवासना से विमुख होना चाहिए। अतः गौतम स्वामी भगवान् से विनिवर्त्तना के विषय में प्रश्न करते है।

मूलपाठ

प्रश्न—विणियट्टणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—विणियट्टणयाए पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ, पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतार वीइवयइ ॥३२॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! विनिवर्त्तन से अर्थात् विषय-संबन्धी विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम! विनिवर्त्तन से नवीन पापकर्म नही होते और पहले के बन्धे हुए टल जाते हैं, तत्पश्चात् जीव चारगति रूप ससार-अटवी को लांघ जाता है।

व्याख्यान

विषय-वासना से विमुख होना विनिवर्त्तन कहलाता है। जो पुरुष विविक्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह विषयवासना से अवश्य पराड् मुख हो जाता है। क्योकि विविक्तशयनासन का सेवन करने मे चारित्र की रक्षा होती है और जो चारित्र की रक्षा करना चाहता है वह विषयवासना से पराड् मुख होता ही है। इस प्रकार जो आत्मा विषयो की ओर दौडा जा रहा है, उसे उस ओर से रोक देना ही विनिवर्त्तन कहलाता है।

जैसे पानी स्वभावत नीचे की ओर बहता है उसी प्रकार पूर्व सस्कारो के कारण आत्मा विषयो की ओर दौडता है। आत्मा को विषयो की ओर जाने से रोकना ही यहा विनिवर्त्तना का अर्थ है। इस विनिवर्त्तन से अर्थात् विषय विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ? गौतम स्वामी ने भगवान् से यही प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि विषयो से विरक्त होने वाला मनुष्य पापकर्मो मे प्रवृत्त नही होता। विनिवर्त्तन करने वाला हमेशा इस बात की सावधानी रखता है कि मुझसे कभी कोई पापकर्म न हो जाये ! वह पहले के पापकर्मों की निर्जरा करने का भी प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह पापकर्मों से निवृत्त होकर निष्पाप बनता है और निष्पाप होने से जीव मनुष्य, तिर्यंच, देव तथा नरक इन चार गति रूप ससार-अटवी को पार कर जाता है। यह मूल सूत्र का अर्थ हुआ। अब इस पाठ के सम्बन्ध में यहा विशेष विचार किया जाता है।

ससारी जीव विषयो की ओर दौडता रहता है। साधारण कीड़े भी विषयो की तरफ दौडते हैं तो मनुष्य, जिसका इतना अधिक ज्ञानविकास हो चुका है विषयो की ओर दौड़े तो आश्चर्य ही क्या है। यह बात अलग है कि शास्त्रश्रवण या पठनपाठन करते समय थोड़ी देर के लिए मनुष्य की मति ठीक रहती है, परन्तु ससार के अधिकाश मनुष्यो की गति विषयो की तरफ ही बनी रहती है। महान् त्यागियो का मन भी क्षण भर मे विषयो की ओर आकर्षित हो सकता है। इस प्रकार के विषयो की ओर से जो विमुख रहता है वह महान् विजेता है। दुस्तर नदी को पार करना कठिन है तो फिर विषयवासना रूपी नदी को पार करना तो बहुत कठिन है। अगर कोई मनुष्य पूर आई नदी को पार कर जाये तो वह कितना बडा तैराक कहलाएगा ?

इस विषय मे महाभारत मे एक उदाहरण प्रसिद्ध है। एक बार श्रीकृष्ण अमरकका नगरी के राजा पद्मनाभ को जीतकर लौट रहे थे। पाण्डव भी उनके साथ थे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवो से कहा तुम लोग आगे चलो, मैं पीछे आता हू। पाण्डव आगे-आगे चलने लगे। रास्ते मे उन्होने देखा कि गगा नदी मे तेज पूर आ रहा है। उन्होने नाव पर चढकर गगा नदी पार की और परले पार पहुच गए। उसके बाद उन्होने विचार किया – जिन्होने पद्मनाभ राजा को हराया है वे श्रीकृष्ण महाराज कैसे पराक्रमी हैं और वे गगा को किस प्रकार पार करते हैं, आज इस बात की परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होने नाव छिपा दी। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' इस कहावत के अनुसार पाण्डवो को उलटी बुद्धि सूझी।

पीछे से श्रीकृष्ण गगा नदी के किनारे आये। उन्होंने देखा, गगा मे खूब जोरदार पूर आया है । गगा को पार करने का और कोई उपाय नजर नही आता । ऐसी दुस्तर गंगा नदी को पाण्डव किस प्रकार पार कर गये! और जब वे गगा नदी को पार कर गए तो पद्मनाभ से कैसे हार गए ? इस दुस्तर महानदी को पार कर जाने वाला व्यक्ति पद्मनाभ से पराजित हो जाये, यह सभव नही है । इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण ने एक हाथ मे रथ लिया और दूसरे हाथ से नदी का पानी काटते हुए गगा पार करने लगे । नदी मे तैरते-तैरते बीच मे उन्हे कुछ थकावट हुई। उस समय गगा देवी ने प्रकट होकर उनके विश्राम के लिए स्थान बना दिया और श्रीकृष्ण से कहा—'अगर आप आज्ञा दे तो मैं आपके लिए मार्ग बना दूँ अथवा नौका आदि की व्यवस्था कर दूँ ।' श्रीकृष्ण बोले—मुझे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नही है । अगर मैं नाव आदि की सहायता लेकर नदी पार करूँगा तो इसमे क्या विशेषता रहेगी ? अपने पुरुषार्थ से ही मुझे नदी पार करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण अपने पुरुषार्थ के द्वारा गगा नदी को पार करने मे समर्थ हुए। पाण्डव उन्हे प्रणाम करके कहने लगे—आप धन्य हैं जो अपने पुरुषार्थ के प्रताप से इस महानदी को पार करने मे समर्थ हो सके ।

श्रीकृष्ण ने उत्तर मे कहा—इसमे आश्चर्य की क्या बात है ? जब तुम लोग ही गगा पार कर सके तो मेरे पार करने मे आश्चर्य ही क्या है ?

पाण्डव बोले—हमने तो नौका से नदी पार की है।

श्रीकृष्ण ने कहा — तो फिर मेरे लिए नौका क्यो नही भेजी ?

पाण्डव — अमरकका के राजा पद्मनाभ के विजेता में कितना पराक्रम है, यही देखने के लिए नौका नही भेजी थी।

पाण्डवो का यह उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त क्रुद्ध हुए और कहने लगे तुम्हारे भीतर इतनी बडी धृष्टता है ! जब तुम लोग पद्मनाभ से हारकर लौटे थे और मैंने पद्म-नाभ को हराया था, तव क्या तुमने मेरा पराक्रम नही देखा था ? तुम लोग मेरे राज्य मे रहने योग्य ही नही हो, अत-एव मेरे राज्य मे से निकल जाओ ।

इस प्रकार कृष्ण को कुपित हुआ देख पाण्डवो को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ । माता कुन्ती आदि के प्रयत्न से श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि शात हुई ।

कहने का आशय यह है कि जिन्होने पूर आई नदी पार की उनमे कितना अधिक वल होगा ? इसी प्रकार विषयभोग की दुस्तर नदी को जो महापुरुष पार कर सकें, वे कितने बडे वीर होगे ?

यह तो विषयसुख पर विजय प्राप्त करने की बात हुई। परन्तु यहा यह देखना है कि विषयसुख से पराङ्मुख होने का फल क्या है ? विषयसुखो की ओर चित्त आकृष्ट न होना ही विषयसुखो से पराङ्मुख होना कहलाता है। विषयसुख से पराङ्मुख होने का ढोग करना दूसरी बात है। किन्तु अगर सम्यक् प्रकार से कोई विषयसुख से विमुख हो जाये तो विषयो के प्रति उसके चित्त का आकृष्ट न होना स्वाभाविक है। विषयसुख से विमुख हुआ पुरुष अपने

में पापकर्मों का आगमन नही होने देता ।

विषयलालसा से ही प्रत्येक पाप की उत्पत्ति होती है। जिसमे विषयलालसा नही होती वह पापकर्म भी नही करता। अतएव विषयवासना से हटना पापकर्मों से हटने के समान है । पाप से दूर होने वाले जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं- एक सिद्ध होते हैं और दूसरे साधक होते है अर्थात् एक तो वे हैं जो विषयवासना से विमुख होकर पापरहित हो चुके हैं और दूसरे वे हैं जो विषयवासना से विमुख होकर पाप-रहित होने का प्रयत्न करते है। जो सिद्ध हो चुके है उनकी यहाँ चर्चा ही नही है क्योकि सिद्ध के लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नही रहती । उपदेश तो साधक के लिए ही दिया जाता है । साधक को उन्मार्ग की ओर जाने से बचाने के लिए उपदेश दिया जाता है । साधको को यहाँ उपदेश दिया गया है कि अगर तुम पाप से बचना चाहते हो तो विषयवासना का त्याग करो ।

पाप सबको बुरा लगता है । कोई मनुष्य पापी कहलाना पसन्द नही करता । किसी को पापी कहा जाये तो वह नाराज हो जाता है। इस प्रकार कोई पापी नही बनना चाहता । परन्तु शास्त्र का कथन है कि वास्तव मे पापी न बनना हो तो विषयवासना का त्याग करो। जो पुरुष विषय-वासना का त्याग न करके भी अपने को निष्पाप कहलवाना चाहता है, वह चोरी करता है, भीतर और कुछ रखना और बाहर और कुछ दिखलाना यह चोरी है। इस प्रकार की चोरी न करते हुए विषयवासना से विमुख होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

पाप मुख्य रूप से अठारह प्रकार के हैं। यह सब पाप विषयवासना से ही उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ— हिंसा का पाप वही व्यक्ति करता है, जिसमें विषयलालसा होती है। प्राणियो के प्राणो को नष्ट करना हिंसा है। परन्तु इस क्रिया को हिंसा के अन्तर्गत कब माना जा सकता है ? इस सम्बन्ध मे कहा है

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यरोपणं हिंसा ।

अर्थात्—प्रमाद से या विषयपोषण के लिए किसी प्राणी के प्राणो को नष्ट करना हिंसा-पाप है। अगर जीव मर जाने मात्र से हिंसा को पाप मान लिया जाये तो तेरहवें गुणस्थान मे स्थित पुरुष के शरीर से भी जीव मरते हैं, अतएव उन्हे भी हिंसा का पाप लगना चाहिए क्योकि योगों की चपलता से जीवो को आघात पहुंचना या उनकी मृत्यु हो जाना स्वाभाविक है। देखना तो यह चाहिए कि जीव के प्राणघात मे हेतु क्या है ? जो हिंसा प्रमाद से या विषय-पोषण के उद्देश्य से की जाती है वही हिंसा पाप के अन्तर्गत कही जा सकती है।

कुछ लोगों को ऐसी शका होती है कि जब सम्पूर्ण आकाश जीवों से व्याप्त है और शरीर के द्वारा जीवो का मरण होना भी स्वाभाविक है, तो फिर पूर्ण अहिंसक किस प्रकार हो सकते हैं ? इस शका का समाधान यह है कि मुनि के शरीर से जीवो का मर जाना स्वाभाविक है, परतु प. ले यह देखना चाहिए कि उनका उद्देश्य क्या है ? क्या उनका उद्देश्य जीवो को मारना है ? वस्तुत हिंसा वही है जो प्रमाद के योग से की ज ती है या विषयपोषण के लिए

की जाती है । इसके अतिरिक्त जो हिंसा होती है उसकी गणना पाप में नही की जाती । उदाहरणार्थ कोई मुनि यदि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से चल रहा हो फिर भी कोई जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर मर जाये तो उसमें हिंसा का पाप लगना नही माना जाता । इसके विपरीत अगर कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से न चल रहा हो और कोई जीव न मरे तो भी उसे हिंसा का पाप लगता है क्योकि हिंसा प्रमाद से होती है अर्थात् प्रमाद हिंसा है।

हिंसा का पाप विषयलोलुपता से ही होता है । इसी प्रकार असत्य आदि दूसरे पाप भी विषयलोलुपता के कारण ही उत्पन्न होते है । इन पापो से बचने के लिए विनिवर्त्तना करने की अर्थात् विषयसुख से विमुख होने की आवश्यकता है । विषयवासना से विमुख हो जाने वाला पापकर्मों में प्रवृत्ति नही करेगा ।

पूर्ण सत्य तो केवल आदर्श रूप है । जो वस्तु जैसी हो, वह वैसी ही कही जाये अर्थात् बोलने मे एक भी अक्षर का अन्तर न पडे, वह पूर्ण सत्य है । पूर्ण ज्ञानी ही पूर्ण सत्य कह सकते हैं । प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी ही अगर पूर्ण सत्य बोल सकते हैं तो दूसरे लोगो को कैसा सत्य बोलना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर से शास्त्रकार कहते है कि हृदय मे विषयभावना या वास्तविकता के विरुद्ध बोलने का भाव न हो तो इस दशा मे जो कुछ भी बोला जाता है, वह भी सत्य ही है । श्री आचारांग सूत्र मे कहा है—

समयं ति मन्नमाणे समया या असमया वा समया

होइ उवेहाए ।

अर्थात्—मन मे ममता हो फिर मुख से कदाचित् विषम शब्द भी निकल जाये तो वह भी सत्य ही है, क्योंकि बोलने वाले का आशय खराब नही है ।

शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट समझी जा सकती है कि खराब आशय और विषयवासना रखे बिना जो कुछ बोला जाता है वह भी सत्य है । जो इस प्रकार सत्य वचन बोलता है और असत्य का त्याग करता है वह किसी दिन पूर्ण सत्य को भी प्राप्त कर सकता है । जैसे रेखागणित मे मध्यरेखा की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार हमारे लिए पूर्ण सत्य तो कल्पना के समान प्रतीत होता है । किन्तु जैसे रेखागणित मे मध्यरेखा की लम्बाई-चौडाई न होने पर भी मानी जाती है–माननी पडती है, उसी प्रकार सत्य मे भी पूर्ण सत्य का आदर्श मानना आवश्यक है । कहने का आशय यह है कि असत्य का पाप भी विषयलालसा से ही उत्पन्न होता है ।

तीसरा पाप चोरी का है । चोरी का पाप भी विषय-लोलुप मनुष्य ही करता है । जिसने विषयवासना पर विजय प्राप्त कर ली है वह चोरी नही करेगा । अर्थात् विषय-विजयी पुरुष चोरी का पाप नही करता । चोरी मे केवल दूसरो की चीजो को बिना अधिकार लेने का ही समावेश नही होता परन्तु अपना या दूसरो का विकास रोकना भी चोरी ही है । तुम श्रावक हो-गृहस्थ हो, अतएव तुम पूरी तरह चोरी से निवृत्त नही हो सकते अतएव तुम्हे स्थूल चोरी से निवृत्त होने के लिए कहा गया है । अर्थात् तुम्हारे

लिए ऐसी चोरी करने की मनाई की गई है जिससे राज्य या समाज के नियमो का उल्लघन होता हो अथवा जिसे राज्य या समाज चोरी मानता हो। पूर्ण चोरी में तो रास्ते मे पडे हुए एक छोटे–से तिनके को भी बिना पूछे लेने का समावेश हो जाता है । पर तुमने अगर रास्ते में पडी हुई तिनका जैसी मामूली वस्तु ले ली हो तुम्हे तो राज्य या समाज द्वारा दण्ड नही दिया जाता । ऐसा करना चोरी मे भी नही गिना जाता । अतएव शास्त्रकारो ने भी ऐसे कृत्य को स्थूल चोरी मे नही गिना है, अलबत्ता सूक्ष्म चोरी में उसकी गणना की गई है । तुम्हे ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग करने के लिए कहा गया है । परन्तु राजा ने पत्थरो की खान मे से पत्थर लेने की मनाई कर दी हो और तुम राजा की आज्ञा लिए बिना पत्थर ले आओ तो वह स्थूल चोरी है । इस प्रकार जिस चोरी से राजाज्ञा या समाजाज्ञा का भग नही होता वह स्थूल चोरी नही है और तुम्हे स्थूल चोरी त्यागने के लिए ही कहा गया है। हाँ, यह बात दूसरी है कि राजा के बनाये हुए कानून योग्य हैं या नही, और उनका पालन करना उचित है या नही, परन्तु राजा के किसी अयोग्य कानून का भी अगर तुम छिपकर भी भग करते हो तो तुम्हारा यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है। तुम्हे कोई कानून खराब और हानिकारक प्रतीत होता हो तो तुम उसे खराब कहकर सविनय कानूनभग की भाति उल्लघन कर सकते हो । अगर कानून बुरा न हो और छिपकर उसका भग करो तो यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है ।

कदाचित् तुम कहोगे कि शास्त्र मे राजा के विरुद्ध

कार्य करना निषिद्ध है, तो फिर राजा का कानून किस प्रकार भग किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र मे जो 'विरुद्ध रज्जाइकम्मे' कहा गया है, उसका अर्थ राजा के विरुद्ध काम न करना नही वरन् राज्यविरुद्ध कार्य न करना है। राज्य का अर्थ सुव्यवस्था है। सुव्यवस्था का भग करने की मनाई की गई है। परन्तु राजा के खराब कायदे का भग करने की मनाई नही की गई। मान लो कि किसी राजा ने अपना भडार भरने के लिए यह कानून बनाया कि प्रत्येक प्रजाजन को प्रतिदिन एक-एक प्याला शराब पीनी चाहिए जिससे राज्य की आय मे वृद्धि हो। तो क्या राजा के इस आदेश का पालन किया जायेगा? ऐसे आदेश का विरोध करना धर्म हो जाता है परन्तु छिपकर किसी कानून का भग करना चोरी है। अगर कोई कानून वास्तव में बुरा है तो प्रकट रूप से उसे भग करना चाहिए, छिप कर नही। 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' का अर्थ है सुव्यवस्था के विरुद्ध कोई काम न करना। इस शास्त्रकथन का यह अर्थ नही कि दुर्व्यवस्था के विरुद्ध भी कोई कार्य न किया जाये। जहा दुर्व्यवस्था है वहाँ राज्य नही है, ऐसा समझना चाहिए। राजा अगर न्यायपूर्वक राज्य का सचालन करता हो तो उसके न्याय को शिरोधार्य करना ही चाहिए। अगर राजा अन्याय करता हो तो उस अन्याय को दूर करने के लिए नैतिक बल से उसका विरोध करना ही कर्त्तव्य है।

आज लोगो मे नैतिक बल की कमी है और जिनमे नैतिक बल की कमी होती है, उनसे भलीभाति धर्म का पालन नही हो सकता। नैतिक बल होने पर ही धर्म का पालन हो सकता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक

ऐतिहासिक उदाहरण दिया जाता है ।

जिस समय की बात कह रहा हू, उस समय भारत मे अगरेजी राज्य फैल गया था। उस समय रामचन्द्र नामक एक सिख गुरु सत्य का उपदेश देकर धर्मप्रचार कर रहा था। सत्य का पालन करो, बस यही उसके उपदेश का मूल मत्र था । अपने मन को न ठगना ही सत्य है ऐसा वह अपने उपदेश मे कहता था । रामचन्द्र गुरु के इस उपदेश की जनसमाज पर अच्छी छाप पडी और बहुत-से लोगो ने सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा ली । सत्यपालन की प्रतिज्ञा लेने वालो मे कूका नामक एक जाट भी था । वह जाट भी रामचन्द्र का शिष्य बन गया और सत्य बोलने का अभ्यास करने लगा ।

उन दिनो अम्वाला मे हिन्दुओ को सताने के लिए मुसलमानो ने गायो को कत्ल करना आरम्भ किया । मुसलमानो ने विचार किया- इस समय अगरेजो का राज्य है, इस कारण कोई किसी के धर्म मे विक्षेप नही कर सकता। प्रत्येक मनुष्य अपना अपना धर्म पालने मे स्वतन्त्र है । इस प्रकार विचार कर उन मुसलमानो ने गायो का एक जुलूस निकाला और उन्हे कत्ल करने के लिए नियत स्थान पर ले गए । हिन्दुओ ने ऐसा दुष्कृत्य न करने के लिए उन्हे वहुत समझाया पर उन्होने एक न सुनी। तव कुछ हिन्दुओ ने विचार किया कि समझाने-बुझाने पर भी गायो को कत्ल करने वाले यह मुसलमान अपनी करतूत से बाज नही आते, ऐसी हालत मे रात्रि के समय इन्हें मार डालना चाहिए । कूका जाट ने और दूसरे हिन्दुओ ने रात के समय उन पर हमला कर दिया और निद्रावस्था मे ही उन्हे मार

डाला। यह समाचार जब रामचन्द्र गुरु के पास पहुचा तो उन्होने ऐसा कृत्य करने वालो की निंदा की और ऐसा करना कायरता है, यह घोषणा की। रात्रि के समय निद्रावस्था मे किसी को मार डालना वीरता नही, कायरता ही है।

हिन्दू और मुसलमानो के बीच जो क्लेश हुआ सो कचहरी तक पहुचा। पुलिस ने कितने ही आदमियो की धरपकड की। मगर जो लोग पकडे गये थे, उनमे बहुत से निरपराध थे। सरकार को यह विश्वास हो गया था कि हिन्दुओ ने मुसलमान कसाइयो को मारा है। इस विश्वास के कारण न्यायाधीश ने सभी पकडे जाने वालो को प्राणदड की सजा दे डाली। जब रामचन्द्र गुरु के कानो तक यह बात पहुची तो उन्होने कहा — यह तो बहुत बुरा हुआ। बेचारे निर्दोष मनुष्य मारे जाएँगे। जिन्होने मुसलमानो को मारा है वही लोग अगर अपना अपराध स्वीकार कर लें तो निर्दोष लोगो के प्राण बच सकते है। अपना अपराध स्वीकार कर लेना भी वीरता ही है। रामचन्द्र गुरु का यह कथन कूका जाट ने सुना। कूका ने गुरु से कहा — आपने मुझे सत्य बोलने की शिक्षा और प्रतिज्ञा दी है। अगर कोई मुझसे पूछे तो मुझे सत्य ही बोलना चाहिए, यह बात मैं पसन्द करता हू। इसी कारण अपराधी होन पर भी मैं कुछ कहता-बोलता नही हू। अब आप कहते है कि अपना अपराध स्वीकार करना भी सत्य और वीरता है, तो मैं आपके समक्ष स्वीकार करता हू कि जो लोग पकड़े गये हैं और जिन्हे मौत की सजा मिली है उन्होने कसाइयो की हत्या नही की। कसाईयो की हत्या मैंन और मेरे साथियो ने की है। इस समय जो लोग पकडे गये हैं वे बेचारे निर्दोष हैं।

कूका की बात सुनकर रामचन्द्र गुरु बोले—अगर वास्तव मे यही बात है और तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है तो तुम सरकार के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लो और निरपराध लोगो के प्राण बचाओ ।

रामचन्द्र गुरु का कथन सुनकर कूका ने कहा—मैं अपना अपराध तो स्वीकार कर लूंगा मगर अपने साथियो के नाम नही बताऊँगा क्योकि मैने उन्हे वचन दिया है कि अगर मैं पकडा गया तो भी उनका नाम नही बताऊँगा। रामचन्द्र गुरु बोले—'तुम सरकार को यही उत्तर देना कि मैंने और मेरे साथियो ने यह दुष्कृत किया है, मगर मैं अपने साथियो के नाम बताने की स्थिति मे नही हू । हाँ, इतना अवश्य कह सकता हू कि इस समय जिन लोगो को अपराधी समझकर मौत की सजा बोली गई है, वे लोग निर्दोष हैं ।'

कूका ने गुरु से पूछा—तो क्या मैं स्वय ही सरकार के पास चला जाऊँ ? गुरु ने कहा—अगर तुमने सत्य बात को स्वीकार करने का साहस है तो फिर सरकार के सामने अपना अपराध स्वीकार करने मे क्या बाधा है ?

कूका पुलिस-प्रधान के पास जा पहुचा। उसने अपना अपराध स्वीकार किया। पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। पुलिस के अनेक प्रलोभन देने पर भी उसने अपने साथियों के नाम प्रकट नही किये । पुलिस ने यहा तक कहा कि अगर तू अपने साथियो के नाम प्रकट कर दे तो तू फांसी की सजा से बच जायगा । मगर कूका अपने निश्चय से विचलित नही हुआ। उसने कहा—आप मुझे फांसी पर चढा सकते हैं, मगर मैं अपने साथियो के नाम जाहिर नही

कर सकता ।

कहने का आशय यह है कि कूका ने सत्य की प्रतिज्ञा पालने के लिए अपने प्राण दे दिये । यह तो ऐतिहासिक घटना है । आर्हत दर्शन मे तो सत्य को ही प्रधान पद दिया गया है । परन्तु तुम लोग जैनदर्शन के श्रद्धालु होते हुए भी, नैतिक बल के अभाव मे, दूसरो को बुरा न लगने देने के लिए भी असत्य बोलते हो ! वास्तव मे वही सत्यभाषी हो सकता है, जिसमे साहस विद्यमान हो । जिसमें साहस नही, वह सत्य नही बोल सकता । सत्यभाषण मे सदैव लाभ ही है ।

साराश यह है कि जिस व्यक्ति मे विषयलालसा होती है, उसी के द्वारा हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्म होते है । विषयवासना से विमुख हो जाने पर पापकार्य नही होते । जो व्यक्ति विषयलालसा का त्याग कर देगा, वह किसलिए पाप करेगा ? अतएव पापकर्मों से बचने के लिए सर्वप्रथम विषयलालसा पर विजय प्राप्त करो । विषयलालसा को जीत कर मन को जितना अधिक पवित्र बनाओगे, तुम परमात्मा के उतने ही अधिक समीप पहुच जाओगे । कदाचित् पहले के कोई कर्म बचे होगे तो उनकी भी निर्जरा हो जाएगी । पापकर्मों को दूर करने के लिए, पापकर्मों की जड-विषयलालसा का उच्छेद करने का प्रयत्न करो । अगर तुम विषयवासना को जीतने जाओगे और व्रतपालन मे दृढ़ रहोगे तो परमात्मा का साक्षात्कार होगा और आत्मा का कल्याण होगा । स्मरण रहे, पाप को छिपाने से पाप दूर नही होता । कदाचित् पाप हो जाये तो उसे छिपाओ मत । उसे हटाने का प्रयत्न करो । ससार के जाल मे से छूटने का यही मार्ग है ।



तेतीसवां बोल

संभोगप्रत्याख्यान



विषयसुख से पराङ्मुख होना भी परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति का एक उपाय है। जो लोग विषयसुख से पराङ्मुख हो जाते है, उनके भाव उच्च बनते हैं, उनकी परमात्मप्रीति दृढ होती है और वे सभोग का त्याग करके स्वावलम्वी बनते हैं। अतएव गौतम स्वामी अब यह प्रश्न पूछते है कि सभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

मूलपाठ

प्रश्न संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर – संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, निरालंबणस्स य आयट्ठिया जोगा भवंति, सएणं लाभेणं सतुस्सइ, परस्स लाभ नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ, परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसेमाणे दुच्चं सुहसेज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥३३॥

शब्दार्थ

प्रश्न – भगवन् ! सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर – हे गौतम ! सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव परावलम्बन का क्षय करता है और उस स्वावलम्बी जीवात्मा के योग उत्तम अर्थ वाले हो जाते हैं। वह आत्म-लाभ से ही सतुष्ट रहता है, पर के लाभ की आशा नहीं करता, एव कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना अथवा अभिलाषा भी नही करता। इस प्रकार जीवात्मा अस्पृही-अनभिलाषी बनकर उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता है ।

व्याख्यान

सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सभोग का अर्थ क्या है ?

जिस समान मिलन से अपना और दूसरो का कल्याण होता हो, उस समान मिलन को सभोग कहते हैं इसके विपरीत जिस मिलन से स्व-पर का अकल्याण होता हो वह विसभोग कहलाता है । मिलन चार प्रकार का है। श्रीस्थानागसूत्र मे मिलन की चौभगी बनाकर कहा गया है—

(१) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभकारक होता है किन्तु लम्बे समय के लिए हानिकारक होता है ।

(२) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभप्रद होता है और थोडे समय के लिए हानिकर होता है।

(३) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी लाभकारक होता है और थोडे समय के लिए भी लाभकारक होता है ।

(४) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी हानिकर होता है और थोडे समय के लिए भी हानिकर होता है ।

यहाँ जो बात कही गई है, वह साधुओ से सम्बन्ध रखती है । साधुओ मे कोई सभोगी और कोई विसभोगी होता है । शास्त्र मे सभोगी और विसभोगी दोनो प्रकार के साधु कहे गये है । कुछ लोगो का कहना है कि साधु होने के बाद साधुओ मे आपस मे भेद क्यो रखा जाता है ? साधुओ को तो एक-रूप हो जाना चाहिए। उन्हे एक साथ ठहरना और एक साथ आहार करना चाहिए । ऐसे लोगो को समझना चाहिए कि यह कथन एकान्तत ठीक होता तो शास्त्र मे साधुओ के सभोगी और विसभोगी भेद न किये गये होते । शास्त्र मे कहा है कि किसी के साथ सभोग करने से गुण की वृद्धि होती हो तो वह सभोग रखना चाहिए, अन्यथा विसभोगी होकर रहना ही अच्छा है । अगर किसी के सभोग से अपने गुणो की हानि होती हो तो उस सभोगी को भी विसभोगी बना लेना चाहिए । साधुओ मे से कोई साधु अगर साधुता के मार्ग से हट गया हो तो उसे यही कहा जा सकता है कि तुम साधुता का मार्ग अंगीकार करो अन्यथा हम तुमसे विसभोगी बन जाएँगे ! जब शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सब साधुओ को एक-रूप होकर ही रहना चाहिए !

मान लीजिए, कोई आदमी अपनी थाली में कन्दमूल लेकर भोजन करने बैठा है और तुम कन्दमूल के त्यागी होने के कारण अलग थाली मे भोजन करने बैठे हो। अब वह आदमी तुमसे कहता है 'मेरे साथ ही भोजन करने बैठो।' तुमने उत्तर दिया—'मैं कन्दमूल का त्यागी हू, अतएव तुम्हारे साथ एक ही थाली मे भोजन करने कैसे बैठ सकता हू ? अगर तुम अपनी थाली मे से कन्दमूल हटा दो तो मैं तुम्हारे साथ जीमने बैठ सकता हू' तब वह आदमी कहता है—'मैं अपनी थाली में से कन्दमूल नही हटा सकता ?' ऐसी स्थिति मे तुम उसे क्या उत्तर दोगे ? तुम यही कहोगे कि अगर तुम्हे ऐसा ही करना है तो हम लोग अलग-अलग ही जीमने बैठें यही ठीक है। इस प्रकार जब तुम अलग जीमने बैठे तो वह कहता है—'तुम अलग बैठकर आपस मे फूट फैलाते हो!' इस कथन का उत्तर यही दिया जा सकता है कि—कुछ भी हो, केवल तुम्हे मनाने के लिए मैं अपने नियमो का उल्लघन नही कर सकता।

इस प्रकार यदि तुम भी अपने नियम का पालन करने के लिए असमान आहार-विहार करने वाले के साथ भोजन करने नही बैठ सकते, तो फिर साधुता के नियमो का ठीक तरह पालन न करने वाले साधुओ के साथ हम सभोग कैसे चालू रख सकते हैं ? कोई मोती असली और कोई नकली होता है। तो क्या असली और नकली मोती को एक सरीखा माना जा सकता है ? क्या असली और नकली मोती को एक ही हार मे पिरोया जाना उचित है ? अगर नही, तो फिर साधुओं के विषय मे भी यही समझ लेना चाहिए। निश्चय मे तो कौन मोक्ष प्राप्त करेगा, यह नही कहा जा

सकता, परन्तु व्यवहार मे तो देखना ही पडता है कि अमुक साधु मे साधुता का गुण है या नही ? जो साधु समान रूप से साधुता के नियमों का पालन करते हैं, उनके साथ तो सभोगव्यवहार चालू रह सकता है, परन्तु जो साधु साधुता के नियमो की अवहेलना करते है, उनके साथ सभोगव्यवहार किस प्रकार चालू रह सकता है ?

सभोग किसे कहना चाहिए, इस विषय मे टीकाकार कहते है कि एक मडल मे बैठकर साथ-साथ आहार करना सभोग कहलाता है । ऐसा करने से अपने गुणो का लाभ होता हो तो सभोग चालू रखना उचित है। अगर गुणो की हानि होती हो तो विसभोगी बनकर रहना ही अच्छा है । विसभोग का तो त्याग नही होता, परन्तु सभोग का ही त्याग होता है । अतएव यहाँ सभोग के त्याग करने का ही फल पूछा गया है । परन्तु यहाँ विशेष रूप से देखना यह है कि किस दशा मे सभोग का त्याग किया जा सकता है ? इस विषय मे शास्त्र मे कहा गया है कि साधु जब भली-भाति पढ-लिखकर गीतार्थ हो गया हो, तब वह जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी अन्य उच्च वृत्ति का धारक बन कर सभोग का त्याग कर सकता है, अन्यथा नही ।

कतिपय एकलविहारी साधु शास्त्र मे वर्णित सभोग त्याग का उल्लेख करके कहते हैं कि हमने भी शास्त्र के कथनानुसार सभोग का त्याग किया है और हम अकेले रहते है । परन्तु ऐसा कहने वाले एकलविहारी साधु शास्त्र के नाम पर धोखा देते हैं और अपना बचाव करते हैं । श्री-स्थानांगसूत्र मे स्पष्ट कहा है—

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरही एगलविहारी पडिमं उवसपज्जिता ण विहरित्तए ।

अर्थात् जिस साधु मे आठ गुण हो, वही साधु पडिमा धारण करके अकेला रह सकता है। परन्तु जिसमे यह आठ गुण न हो वह अकेला नही रह सकता। इस पर से यह बात समझने योग्य है कि साधु कब और कैसी अवस्था मे अकेला रह सकता है ? जिन गुणो की विद्यमानता मे सभोग का त्याग करना बतलाया गया है, वह गुण अपने मे न होने पर भी सभोग का त्याग करके अकेला रहना और फिर शास्त्र की आड मे अपना झूठा बचाव करना सर्वथा अनुचित है। एकलविहारी साधु शास्त्र का प्रमाण पेश करते हैं और शास्त्र का प्रमाण तुम्हे भी मान्य होना चाहिए । तुम भी श्रावक हो । शास्त्र मे कहा है —

निग्गथे पावयणे पुरओ काउ विहरति ।

अर्थात्—साधु और श्रावक निग्रन्थ प्रवचन को समक्ष रखकर विचरते है । अतएव तुम भी शास्त्र का अध्ययन करो और देखो कि किस अवस्था मे साधु अकेला रह सकता है। अगर तुम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करोगे तो कोई एकल-विहारी साधु शास्त्र का नाम लेकर तुम्हे ठग नही सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जो साधु गीतार्थ हो चुका हो, वही जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी उच्च वृत्ति का धारक बनने के लिए सभोग का त्याग कर सकता है और उग्र विहार कर सकता है । साधु जिनकल्पी हो, प्रतिमाधारी हो या किसी उच्च वृत्ति को धारण करने की इच्छा वाला हो तो ही वह संभोग का त्याग कर सकता है । ऐसे उच्च

साधु को, ऐसे अवसर पर सभोग का त्याग क्यो करना पडता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हू --

कल्पना करो, एक मनुष्य व्याज-वट्टे का धधा करता है । उसने अधिक लाभ की इच्छा से अपना धन्धा बन्द करके जवाहरात का व्यापार करने का विचार किया । व्याज-वट्टे के धन्धे मे उसे लाभ तो होता था, परन्तु उत्कृष्ट लाभ प्राप्त करने के लिए उसे व्याज का धन्धा व द करना आवश्यक हो गया । इसी प्रकार जब कोई उच्च श्रेणी का लाभ होता हो तभी सभोग का त्याग किया जाता है । सभोग का त्याग करने का अर्थ यह नही है कि सभोग मे ही रहना बुरा है । साधारण रूप से तो साधु को सभोग मे ही रहना चाहिए, परन्तु अगर अपने मे विशिष्ट शक्ति हो और उत्कृष्ट लाभ पाना हो तो सभोग का त्याग करना लाभप्रद है ।

सभोग का त्याग करने मे जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है । इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते हैं--सभोग का त्याग करने से जीव आलम्बन रहित बनता है । साधु जब सभोग मे रहता है तो अन्य साधुओ का सहारा रहता है । वह सोचता है-- 'मै बीमार हो जाऊँगा तो जिन साधुओ के साथ मैं सभोग करता हू, वे साधु मेरी सेवा करेगे ।' सभोग का त्याग कर देने से उसे इस प्रकार का आलम्बन नही रह जाता ।

मृगापुत्र की माता ने मृगापुत्र से कहा था - हे पुत्र ! तू दीक्षा तो लेता है, मगर दीक्षा के बाद 'दुक्ख निप्पडिकम्मया' अर्थात्-जिनकल्पी आदि दशा प्राप्त होने के पश्चात् जब

बीमारी उत्पन्न होती है तो बडी ही कठिनाई उपस्थित होती है। क्योंकि जिनकल्पी होने के बाद बीमारी मिटाने के लिए दवा भी नही ली जा सकती।

माता के इस कथन के उत्तर में मृगापुत्र ने कहा—हे माता ! ऐसा दुख आलम्बन लेने वाले को ही होता है। जो आलम्बन का त्याग कर चुकता है उसे दुख का अनुभव नही होता। मैं राजपुत्र हू, इस कारण मेरी चिकित्सा हो सकती है, परन्तु ससार मे ऐसे अनेक प्राणी हैं जिनकी बीमारी दूर करने के लिए दवा ही नही की जाती। वन में रहने वाले मृगो को जब बीमारी होती है तो वे वन मे क्या करते हैं ? वे मृग एकान्त में किसी वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं और जब तक रोग शात नही हो जाता तब तक वही बैठे रहते हैं। रोग शात हो जाने पर वे स्वय उठकर चरने चले जाते हैं। उन मृगो को यह आशा ही नही होती कि कोई आकर हमारी सेवा करेगा और यह आशा न रखने के कारण उन्हे किसी प्रकार का दुख नही होता। मैं भी उन मृगो के समान निरालम्बी रहूगा और निरालम्बी रहने के कारण व्याधि उत्पन्न होने पर भी मुझे भी दुःख नहीं होगा।

इस प्रकार सभोग का त्याग करने से साधु निरालम्ब बनता है। निरालम्ब बनने का अर्थ ही सभोग का त्याग करना है। ऐसा नही होना चाहिए कि सभोग का त्याग करने वाला, साधुओ का आलम्बन तो न लेवे और उसके बदले गृहस्थो का आलम्बन ले और उनसे अपनी सेवा करावे। कहा जा सकता है कि गृहस्थो का आलम्बन लिए बिना

हमारा काम नही चल सकता, क्योकि हममें ऐसी शक्ति ही नही है कि दूसरे के आलम्बन के विना ही हम अपना काम चला सकें । ऐसा कहने वाले को यही उत्तर देना चाहिए कि अगर तुममे आलम्बन लिये विना काम चलाने की शक्ति ही नही है तो तुमने सभोग का त्याग ही क्यो किया ? और जब तुमने सभोग का त्याग कर दिया है तो सभोगत्याग का उद्देश्य ही निरालम्बी बनना है । अब किसी का आलम्बन लेने की क्यो आवश्यकता होनी चाहिए ?

भगवान् कहते है– सभोग का त्याग करने से निरालम्बी बन सकते हैं । अवलम्बन लेने से तिरस्कारवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव सभोग का त्याग करने वाला स्वावलम्बी बनता है अर्थात् किसी की सहायता की अपेक्षा नही रखता । कवि कालीदास ने रघुवशी राजा का वर्णन करते हुए कहा है––

स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः

अर्थात–– अपनी रक्षा करने मे आप समर्थ होने के कारण रघुवशी राजा अकेला वन मे गया ।

यद्यपि राजा व्यावहारिक दृष्टि से अपने साथ रक्षक रखता था परन्तु उसे अपने ऊपर ऐसा विश्वास था कि रक्षक मेरी रक्षा नही कर रहे है, वरन् मैं स्वय इतना समर्थ हूं कि रक्षको की भी रक्षा कर सकता हू । इस प्रकार वह रघुवशी राजा अपनी और दूसरो की रक्षा करने मे समर्थ था और इसी कारण वह अकेला ही वन मे गया था ।

इस प्रकार जिसमे आलम्बनरहित रहने की क्षमता होती है और जो किसी की सहायता की अपेक्षा नही रखता,

वही संभोग का त्याग कर सकता है । अत. आलम्बन का त्यागी ही सभोग का त्यागी कहलाता है ।

प्रजा उसी राजा का सन्मान करती है जो राजा अपनी और प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है । जो राजा स्वय अपनी सेवा दूसरो से कराता हो उसे प्रजा कायर कहेगी और उसका प्रजा पर कोई प्रभाव नही पडेगा । इसी प्रकार स्वावलम्बी होने से और अपनी रक्षा में स्वयमेव समर्थ होने से और दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने से ही साधु संभोग का त्यागी कहलाता है ।

जो व्यक्ति अपना काम आप करके दूसरो का काम करने मे समर्थ होता है, वही व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और दूसरो पर अपना प्रभाव भी डाल सकता है । यह बात एक प्राचीन उदाहरण द्वारा समझो ।

विराट-नगरी मे अज्ञातवास समाप्त करके पाण्डव अभी प्रकट हुए थे । वे अपनी प्रसिद्धि करने के लिए अभिमन्यु का विवाह उत्तरा के साथ धूमधाम के साथ कर रहे थे । इस विवाहोत्सव मे भाग लेने के लिए श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी विराट-नगरी मे आई हुई थी । विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद जब श्रीकृष्ण की रानियाँ वापिस द्वारिका लौटने लगी तो द्रौपदी उन्हे विदा करने गई । श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा बहुत भोली थी । इसीलिए 'भोली भामा' की कहावत प्रसिद्ध हो गई है । भोली सत्यभामा ने रास्ते में द्रौपदी से कहा—मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूं । द्रौपदी ने उत्तर मे कहा—तुम मुझसे बडी हो और तुम्हे मुझसे प्रत्येक बात पूछने का अधिकार

है। तव सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—'मेरे एक ही पति हैं, फिर भी वह मेरे वश में नही रहते, और तुम्हारे पाच पति हैं फिर भी वे पाँचो तुम्हारे वश मे रहते है। अतएव मैं पूछना चाहती हू कि क्या तुम्हारे पाम कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से तुम पाचो पतियो को अपने वश मे रख सकती हो ? अगर ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती होओ तो मुझे भी वह मन्त्र सिखादो न ?'

द्रौपदी ने उत्तर दिया—मैं ऐसा वशीकरण मत्र जानती हू, परन्तु जान पडता है, कोमलांगी होने के कारण तुम वह मन्त्र साध नही सकोगी।

सत्यभामा कहने लगी—मैं उस मन्त्र को अवश्य साध सकूंगी। मुझे अवश्य वह मन्त्र वता दो। मुझे उसकी वडी आवश्यकता है।

ऐसे वशीकरण मन्त्र की आवश्यकता किसे नही होती ? उसे तो सभी चाहते हैं। पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और इस प्रकार सभी एक दूसरे को अपने वश मे करना चाहते हैं। मगर यह मत्र जब साध लिया जाये तभी सब को वश मे किया जा सकता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा से कहा मैं वशीकरण मत्र द्वारा सब को अपने वश मे रखती हू। वह मन्त्र यह है कि स्वय दूसरे के वश मे रहना। इस मन्त्र से जिसे चाहो उसे वश मे कर सकती हो। इस मन्त्र को साधने का उपाय मेरी माता ने मुझे सिखाया है। मन्त्र साधने की विधि बतलाते हुए मेरी माता ने कहा था—'पति के उठने से पहले उठ जाना।' फिर पति की आवश्यकताएँ अपने हाथ से पूरी

करना। दास दासियो के भरोसे न बैठी रहकर सब काम अपने हाथ से करना और दास-दासी की अपेक्षा अपने आपको बडी दासी समझना। इस प्रकार अपने को नम्र बनाकर सब काम करना। बडो-बूढो की मर्यादा रखना। सब की सेवा शुश्रूषा करना और सब को भोजन कराने के बाद आप भोजन करना। इसी प्रकार सब के सो जाने पर सोना। काम करते करते फुरसत मिल जाये तो सब को कर्त्तव्य और धर्म का भान कराना। इस प्रकार कर्त्तव्यपरायणता का परिचय देकर अपनी चारित्रशीलता का प्रभाव डालना। यही वशीकरण मन्त्र को साधने के उपाय हैं। इस उपाय से मन्त्र को अच्छी तरह साधना की जाये तो अपने पति को तथा अन्य कुटुम्बी जनो को अपने अधीन किया जा सकता है। अगर तुम इस विधि से मन्त्र की साधना करोगी तो श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे वश मे हो जाएँगे।

तुम लोग भी इस वशीकरण मन्त्र को साधने का प्रयत्न करो। साहस और शक्ति के साथ मन्त्र को साधने का प्रयत्न करोगे तो अवश्य उसे साध सकोगे। अगर तुमने मन्त्र-साधन का साहस ही न किया और दूसरे के भरोसे बैठे रहे तो यह तुम्हारी पराधीनता कहलाएगी। शास्त्र तुम्हे जो उपदेश देता है सो तुम्हारी परतन्त्रता दूर करने के लिए ही है। शास्त्र तो तुम्हे आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से स्वतन्त्र करना चाहता है। इसी कारण शास्त्र आध्यात्मिक उपदेश के साथ ७२ कलाओ का शिक्षण सपादन करने का भी उपदेश देता है। मगर तुम तो परतन्त्रता मे और दूसरो के हाथो काम कराने में ही सुख मान बैठे हो। परतन्त्र रहने मे और दूसरो के हाथो से काम

कराने मे कम पाप होता है और सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपने हाथ से काम करने मे कम पाप लगता है या दूसरे से कराने मे, इस बात का अगर बुद्धि-पूर्वक विचार करोगे तो तुम्हे विश्वास हो जायेगा कि स्वतन्त्रता मे सुख है और परतन्त्रता मे दु.ख है। पाप परतन्त्र दशा मे अधिक होता है और स्वतन्त्रदशा में कम होता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा को वशीकरण मन्त्र और उस मन्त्र को साधने के उपाय बतलाते हुए कहा-दूसरों के वश मे रहना सच्चा वशीकरण है और पति-सेवा मे सुख मानना, पति की आज्ञा मानना तथा कर्त्तव्यशील और धर्मपरायण होकर रहना मन्त्र साधने के उपाय हैं। अगर तुम इस मत्र की साधना करोगे तो तुम भी सब को अपने वश में कर सकोगे। यह मन्त्र तो विश्व को वश मे करने वाला वशीकरण मन्त्र है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष स्वावलम्बी बनता है और अपना काम आप करके दूसरो का भी काम कर लेता है, वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। दूसरो को गुलाम रखने वाला स्वय गुलाम बनता है।

कहते हैं, भारत का पहला लॉर्ड क्लाइव जब ढाका के नवाब से मिलने गया तो नवाब ने अपने गुलामो को सुन्दर वस्त्र पहना कर एक कतार मे खड़ा किया था और गुलामो को नीचे झुकाकर सलामी दी थी। नवाब जब क्लाइव से मिला तो उसने क्लाइव से पूछा--तुम अपने बादशाह को बहुत बडा कहते हो तो उसके पास कितने गुलाम हैं? लॉर्ड ने उत्तर दिया 'हमारे बादशाह के पास एक भी

गुलाम नही है ।' नवाब ने कहा—'तो फिर बादशाह बडे क्यो कहलाते हैं ?' लॉर्ड ने कहा—हमारे बादशाह के पास यो तो गुलाम बहुत हैं, पर वे शरीर से नहीं, मन से हैं। जो शरीर से ही गुलाम होता है और मन से गुलाम नहीं होता अर्थात् जो मन से स्वतन्त्र है वह गुलाम नही है। वास्तव में गुलाम वही है जो मन से गुलाम है।

आशय यह है कि द्रौपदी के कथनानुसार जो स्वावलम्बी वनता है वही सभोग का त्याग कर सकता है। सभोग का त्याग करने के लिए अपने बल-अबल का विचार पहले करना आवश्यक है। शास्त्र कहता है कि अगर आज तुममें सभोग का त्याग करने की शक्ति नही है तो सभोग का त्याग करने वाले जिनकल्पी महात्माओ का आदर्श दृष्टि के सामने रखो और उनके समान वनने का प्रयत्न करो। इसी मे कल्याण है।

यह तो बतलाया जा चुका है कि सभोग का त्याग करने से निरवलम्ब अवस्था प्राप्त होती है। सभोग पारस्परिक लाभ के लिए किया जाता है फिर भी उसमे परतन्त्रता तो है ही। अतएव साहस और शक्ति हो तो इस परतन्त्रता को दूर करने के लिए सभोग का त्याग करना आवश्यक है। जहाँ लाभ होता है वहाँ परतन्त्रता भी होती है। अत. स्वाधीन बनने के लिए उस लाभ से वचित रहना और संभोग का भी त्याग करना आवश्यक है।

सभोग मे रहने से दूसरो का आलम्बन लेना पडता है। अगर सभोग का त्याग कर दिया जाये तो निरालम्ब वन सकते हैं। सभोग का त्याग करना शक्ति और साहस

पर निर्भर करता है । शक्ति और साहस न हो तो सभोग का त्याग करना अनिवार्य नही है । आज आपसे रेल मे वैठने का त्याग करने के लिए कहा जाये तो क्या आप त्याग कर सकेगे ? आप यही कहेगे कि रेल मे वैठने का त्याग करने से हमारा काम नही चल सकता। मगर तुम्हारे पूर्वजो का काम रेल के बिना चल सकता था या नही ? अगर उनका काम चल सकता था तो तुम्हारा काम क्यो नही चल सकता ? इससे यही मालूम होता है कि साधनो की अधिकता से शक्ति का नाश होता है । अतएव साधनो का यथाशक्ति त्याग करना चाहिए ।

सभोग के त्याग से आलम्बन का त्याग होता है । आलम्बन के त्याग से आयत अर्थ की सिद्धि होती है अर्थात् सभोग और आलम्बन का त्याग करने से सयम और मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई आधार नही रहता । सभोग के त्याग से प्रत्यक्ष लाभ यह होता कि अपने ही लाभ से सतुष्टि होती है और दूसरे के लाभ की आशा नही रहती । फलस्वरूप हृदय मे ऐसा सकल्प–विकल्प पैदा नही होता कि कोई मुझे अमुक वस्तु दे, अमुक ने अमुक वस्तु क्यो न दी अथवा मुझे दूसरे से अमुक वस्तु मिल जाये ! इस दशा मे 'हमारा अमुक काम कर दो' इस प्रकार की प्रार्थना भी नही करनी पडती । जिसे किसी प्रकार की अभिलाषा होती है उसी को दूसरे से प्रार्थना करनी पडती है । जिसे दूसरे से सहायता लेने की इच्छा ही नही है और जो दूसरे के लाभ की आशा ही नही रखता, वह दूसरे के सामने प्रार्थी क्यो बनने लगा ? इसी प्रकार जो साधु सभोग का त्याग करके निरवलम्ब, निर्विकल्पी, अप्रार्थी, अस्पृही और अनभि-

लाषी बनता है, वह साधु श्रीस्थानागसूत्र में कही हुई उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता है।

जिस पर शयन किया जाता है उसे शय्या कहते है। शय्या दो प्रकार की है--सुखशय्या और दु:खशय्या। दूसरे के आधार पर रहने वाला दु:खशय्या पर सोने वाला है और जो अपने ही आधार पर रहता है, दूसरो का आधार नही लेता, वह सुखशय्या पर सोने वाला है। दूसरो के आधार पर रहना पराधीनता है और अपने आधार पर रहना स्वाधीनता है। पराधीनता के समान और कोई दु:ख नही तथा स्वाधीनता के समान दूसरा सुख नही। पराधीनता के साथ खाने को मिष्टान्न मिलना भी अच्छा नही। उसकी अपेक्षा स्वतन्त्रतापूर्वक मिला हुआ रूखा, सूखा रोट ही अच्छा है। स्वतन्त्रता मे जो आनन्द है वह परतन्त्रता में स्वप्न मे भी सभव नही।

आज लोग स्वतन्त्रता को भूल गये हैं और लकीर के फकीर की भाति बहुत से लोग जो कार्य करते हैं, उसी को करने बैठ जाते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। अधिक लोग जो काम करते हैं, वह करना ही चाहिए, यह ठीक कैसे कहा जा सकता है? क्या अधिक सख्या मे लोग अप्रामाणिक और विश्वासघाती नही हैं? क्या इनका अनुकरण करना उचित कहा जा सकता है? अतएव इस धारणा का त्याग कर दो कि बहुजनसमाज जो कार्य करता है वही कर्त्तव्य है। बहुजनसमाज के कार्यों की नकल न करके जिससे आत्मा का कल्याण हो, वही करना चाहिए।

शास्त्रानुसार स्वाधीनता मे ही सुख है। यह बात

दूसरी है कि आज लोग परवश हो जाने के कारण तत्काल पराधीनता का त्याग नही कर सकते, फिर भी स्वतन्त्रता को भूल तो नही जाना चाहिए। स्वाधीनता का आदर्श तो अपनी नजर के आगे रखना ही चाहिए। जो लोग पराधीनता को ही सर्वस्व मान बैठते हैं और स्वाधीनता को सर्वथा भूल जाते हैं, उनका परतन्त्रता के दुःख से मुक्त होना कठिन है। अगर स्वाधीनता का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखा जाये और आदर्श पर पहुचने का यथाशक्य प्रयत्न किया जाये तो एक दिन अवश्य ऐसा आएगा कि पराधीनता के दुःख का अन्त हो जायेगा। स्वाधीनता के सिद्धान्त को सर्वथा भुला देने से पराधीनता के दुःख से छुटकारा मिलना कठिन है।

कल्पना करो, एक कैदी को कैदखाने मे बन्द कर दिया गया है और एक पागल को पागलखाने मे डाल दिया है। अब यह दोनो अपने बन्धन से कब छूट सकते हैं? कैदी को तो कैदखाने से छूटने की अवधि निश्चित है किन्तु पागल का दिमाग जब शात और स्थिर होगा तभी वह पागलखाने से छूट सकेगा। दिमाग शान्त और स्थिर हुए बिना वह पागलखाने से छुटकारा नही पा सकता। ज्ञानी और अज्ञानी में भी इसी प्रकार का अन्तर है। अपराध तो ज्ञानी से भी हो जाता है परन्तु ज्ञानी के अपराध के दण्ड की अवधि होती है और अज्ञानी के दण्ड की अवधि नही होती। अतएव जब अज्ञानी का अज्ञान मिटता है तभी वह दुःख से छूटता है। इस प्रकार अज्ञानता एक प्रकार का पागलपन है। अतएव स्वतन्त्रता क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त करो।

एक लेख मे मैंने देखा था— किसी जगह पागलखाने

में आग लग गई। कुछ दयालु लोग पागलों को बाहर निकालने के लिए दौडे आये। मगर पागल तो आग को देखकर उलटे आनन्द मनाने लगे। कहने लगे-यहाँ और दिन तो एक-दो ही दीपक जलाये जाते थे पर आज हजारों दीपक जलाये जा रहे है! ऐसे प्रकाशमय स्थान से हमे बाहर क्यो निकाला जा रहा है?

अगर तुम वहाँ होते तो यही कहते कि यह पागल कितने मूर्ख हैं कि विनाश को भी प्रकाश मान रहे हैं! आह! लोगो की दशा कितनी दयनीय है!

पागल भ्रम मे फँसे होने के कारण ही विनाश में आनन्द मान रहे हैं। इसी प्रकार आज की जनता भी ऊपरी भपके के भ्रम मे पडी है और इसी कारण लोग ऊपरी भपका बढ़ाने में ही आनन्द मान रहे है। ऐसे लोगो से ज्ञानीजन कहते हैं - इस ऊपरी भपके के भ्रम से बाहर निकलो अन्यथा इस भपके के भडके मे ही भस्मीभूत हो जाओगे। ज्ञानीजन तो इस प्रकार चेतावनी देकर दिखावटी फैशन के चक्कर में से लोगो को निकालने का प्रयत्न करते हैं, मगर शौकीन लोग ज्ञानियो की चेतावनी की अवगणना करते हैं। इस अवगणना के फलस्वरूप उन्हें दुःख ही सहन करना पडता है; क्योकि फैशन बढने से पराधीनता बढ़ती है और पराधीनता मे दुःख है।

स्वामी विवेकानन्द यूरोप-अमेरिका आदि देशो में धर्मप्रचार करके जब भारत लौटे, तो उन्होने अपने अनुभव बतलाते हुये एक भाषण में कहा था—इस समय सारा यूरोप ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा है। यह नही कहा जा

सकता कि यह ज्वालामुखी कब फटेगा और कब यूरोप का विनाश होगा ! इसी प्रकार आज का फैशन भी ज्वालामुखी के शिखर तक पहुच चुका है । इस फैशन की बदौलत कब विनाश का आगमन होगा, यह नही कहा जा सकता । आज कितनेक लोग पैरिस आदि पाश्चात्य नगरो मे जाकर और वहा की ऊपरी तडक-भडक देखकर कहने लगते हैं--सारा मजा तो बस, यही है ! हम लोग तो अभी जगली दशा मे हैं । ऐसा मानने वाले लोगो को यह भान नही है कि इस तडकभडक के पीछे कैसी और कितनी परतन्त्रता छिपी हुई है ! जिन्होने तडकभडक का त्याग कर दिया है उन्हे तुम मूर्ख मानते हो । मगर यदि तुम इस बात का गम्भीर विचार करोगे कि इस तडकभडक से स्वतन्त्रता मिलती है या परतन्त्रता मिलती है, तो अपने पूर्वजो को मूर्ख नही कहोगे । वास्तव में तुम उपरी तडकभडक का त्याग करने वाले अपने पूर्वजो को मूर्ख कहकर अपनी मूर्खता का ही परिचय देते हो ।

आज स्वतन्त्रता की भावना क्षीण हो गई है और इसी कारण त्यागशील पूर्वजो को मूर्ख समझा जाता है । उदाहरणार्थ--हरिश्चन्द्र के विषय मे कहा जाता है कि उसने अपना राज्य एक अयोग्य व्यक्ति को सौप दिया, यह मूर्खता नही तो क्या है ? मगर जिसने इतना महान् और अपूर्व त्याग किया उसे मूर्ख कहना क्या उचित है ? हरिश्चन्द्र ने कदाचित् वचनबद्ध होने के कारण अपने राज्य का त्याग किया था, परन्तु शास्त्र मे तो यहा तक कहा है कि--

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
सन्ती सन्तिकरे लोऐ पत्तो गइमणुत्तर ॥

इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती भगवं पत्तो गइमणुत्तरं ॥

— उत्तराध्ययन, अ० १८, गा० ३९-४० ।

अर्थात्--जिनका सम्पूर्ण भरतखण्ड पर अधिकार था, उन भगवान् शान्तिनाथ और भगवान् कुन्थुनाथ ने अपनी समस्त ऋद्धि का त्याग किया था ।

उन्होने यह त्याग क्यो किया था ? उनके त्याग का यही कारण था कि उन्हे उस ऋद्धि में परतन्त्रता प्रतीत हुई थी । उस ऋद्धि मे उन्हे स्वतन्त्रता नही मालूम हुई । उन्होने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ही राज्य की ऋद्धि का त्याग किया था ।

भगवान् शान्तिनाथ चक्रवर्ती राजा थे, फिर भी उन्होने शाति प्राप्त करने के लिए राजपाट त्याग दिया । त्याग से ही शाति मिलती है । भोग से कभी किसी को न शान्ति मिली है, न मिलती है और न मिलेगी । अतएव भगवान् शान्तिनाथ ने शाति प्राप्त करने का जो मार्ग बतलाया है, उसे जीवन मे स्थान देने से ही वास्तविक कल्याण होगा ।

यह आशका उठाई जा सकती है कि हम लोग अगर शाति धारण करके बैठ रहे तो बदमाश लोग हमे शात कैसे रहने देगे ? इसका उत्तर यह है कि अगर तुम्हारे भीतर वास्तविक शाति होगी तो कोई दूसरा तुम मे अशाति उत्पन्न कर ही नही सकता । अशाति तो अपने भीतर मौजूद अशाति के कारण ही होती है । अतएव शाति प्राप्त करने के लिए त्याग-भावना को अपनाना चाहिए । तुम त्याग तो करते हो मगर त्याग की पद्धति ठीक न होने के कारण

तुम्हें शांति प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ - एक किसान गीली जमीन मे बीज बोता है और दूसरा सूखी जमीन मे। गीली जमीन मे बोया हुआ बीज तो अंकुरित हो जाता है, पर सूखी जमीन मे बोया बीज जल के अभाव मे कैसे अंकुरित हो सकता है ? इसी प्रकार तुम लोग जो त्याग करते हो वह सूखी जमीन मे बोये बीज की तरह निष्फल जाता है। त्याग निष्फल हो जाने से तुम्हें शांति प्राप्त नही हो सकती। अगर कोई पदार्थ अहंकारपूर्वक त्यागा जाता है तो वह त्याग शांति देने वाला और परमात्मा के शरण मे ले जाने वाला सिद्ध नही होता। शांति देने वाला सच्चा त्याग तो वही है जो बिना किसी अभिमान के, परमात्मा को समर्पित कर दिया जाये! परमात्मा को समर्पित करने की दृष्टि से किया हुआ त्याग हमेशा फलदायक होता है, क्योंकि इस प्रकार त्याग करने वाले को किसी दिन पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आता।

मान लो, तुमने किसी मनुष्य को हजार रुपया उधार दिये। उधार लेने वाले ने दिवाला निकाल दिया। ऐसी स्थिति मे तुम्हे हजार रुपये के लिए पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है। इसके बजाय वही हजार रुपया अगर दान दिया होता तो क्यो पश्चात्ताप होता ? इस प्रकार परमात्मा को समर्पण करने की दृष्टि से जो त्याग किया जाता है, उस त्याग के लिए पश्चात्ताप करने का कोई कारण नही रहता।

प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाएँ होती हैं - दान, भोग और नाश। तुम लोग वस्तु का भोग करते हो और उसका नाश भी होता देखते हो, परन्तु दान मे बहुत कम उपयोग

करते हो । आजकल वस्तुओ का भोग और नाश तो होता दिखाई देता है परन्तु दान में बहुत कम उपयोग होता है । इस जमाने मे बहुत बेकारी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वस्तुओ का भोग और नाश करने मे क्या कुछ कमी रखी जाती है ? कमी तो वस्तुओ के दान मे ही आई है ।

यहा एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । वह यह कि वस्तुओ का भोग और नाश करने से तो अन्त मे पश्चात्ताप ही पल्ले पडेगा परन्तु दान मे वस्तुओ का उपयोग करने से पश्चात्ताप का अवसर नही आएगा । अत-एव प्राप्त सम्पत्ति का भोग और नाश करके ही दुरुपयोग मत करो, उस सम्पत्ति का दान देकर सदुपयोग करना सीखो ।

कुछ लोग तो दान करने मे भी पाप मानते हैं उन लोगो की मान्यता यह है कि हम जिनको दान देते हैं, वह दान लेने वाले अगर कोई पाप कर्म करें तो उनके सब कर्मों का पाप हमे लगता है इत्यादि मारवाड मे ऐसी मान्यता वाले लोग हैं । इन लोगो के बीच भ्रमण करके मैंने उनकी इस दुर्भावना को दूर करने का प्रयत्न भी किया था और उन्हे समझाया था कि उनकी यह मान्यता ठीक नही है । दान मे विवेक रखने की आवश्यकता तो है, मगर दान मे एकान्त पाप मानना गलत है। लोगो को दान मे पाप मानने की बात बहुत जल्दी पसन्द आ जाती है, क्योकि ऐसा मानने से गाठ का कुछ जाता नही और धर्म भी हो जाता है । ऐसी बात जल्दी पसन्द आना स्वाभाविक है। दान मे विवेक रखना ठीक है मगर एकान्त पाप मानना ठीक नही है । बीज नष्ट हो जाने के डर से बोना ही छोड बैठना कोई

बुद्धिमत्ता नही है । एक किसान खेती करता है और बीज का आरोपण करता है, जब कि दूसरा किसान खेती करता है किन्तु बीज नष्ट हो जाने के भय से बीज ही नही बोता। इन दोनो मे से तुम किसे ठीक कहोगे ? इसी प्रकार एक आदमी दान में विवेक रखता है मगर दान देता है और दूसरा, दान लेने वाला जो पापकर्म करेगा वह पापकर्म मुझे लगेगा, इस भय से दान ही नही देता । इन दोनो मनुष्यों मे से वही मनुष्य अच्छा कहलाएगा जो दान देता है। दान ही न देना तो बीज ही न बोने के समान है। अतएव विवेकपूर्वक दान तो अवश्य देना चाहिए। पाप के भय से दान ही न देना अनुचित है ।

सुना है, अमेरिका मे एक बार दो मित्र जा रहे थे। रास्ते मे एक लगडा मनुष्य बैठा दिखाई दिया। दोनो मित्रों मे से एक को उस लगडे पर दया आई और उसने अपने जेब से कुछ रुपये निकाल कर उसे दे दिये । यह देखकर दूसरे ने कहा - तुमने इस अपग मनुष्य को रुपये तो दिये मगर इससे उसका भिखारीपन दूर नही हुआ । रहा तो भिखारी का भिखारी ही । तुम्हारा यह दान करुणादान तो अवश्य है पर उसे ऐसा दान देना चाहिए कि उसका भिखारीपन ही मिट जाये और वास्तव मे ऐसा दान करना ही श्रेष्ठ दान है। इस प्रकार कहकर वह दूसरा मित्र उस अपग को अपने घर ले गया। वहा उसने उसे हुनर-उद्योग सिखाया और लकडी तथा रबर के कृत्रिम पैर बनाकर उसके पैर दुरुस्त कर दिये । वह अपग हुनर-उद्योग के द्वारा अपना और दूसरो का भी पोषण करने मे समर्थ बन सका । दान तो दोनो मित्रो ने दिया, परन्तु किस मित्र का दान सच्चा

और ऊँचा दान है, इस बात पर विचार करो । जिस मित्र ने रुपये का दान दिया उसका दान भी करुणादान था परंतु दूसरे ने भिखारीपन दूर करने का जो दान दिया वह उस की अपेक्षा अधिक प्रशस्त है । इस प्रकार दान में विवेक रखना अच्छा है परन्तु दान देने मे पाप ही मानकर उचित नही कहा जा सकता ।

न्यायमूर्ति रानडे के विषय में सुना है कि जब वे हाई-कोर्ट के जज थे तब एक बार दुष्काल के समय घोडागाडी मे बैठकर हवाखोरी के लिए जा रहे थे । रास्ते मे उन्होने देखा कि एक मनुष्य गोबर में से अन्न के दाने बीन रहा है । यह दृश्य देखकर उनका दिल दया से द्रवित हो उठा। वह मन ही मन कहने लगा बेचारे लोगों की कैसी दीन दशा है और मैं बग्घी मे सवार होकर घूम रहा हू । दया भाव से प्रेरित होकर वे उस मनुष्य को अपने घर ले गये और उसको आजीविका की उचित व्यवस्था कर दी । इस घटना के बाद उन्होंने अपनी नौकरी त्याग दी और वे गरीबों की सेवा करने में ही प्रवृत्त हो गए ।

कितनेक लोगो के कथनानुसार इस प्रकार के अशक्तों को सशक्त बनाना शस्त्र को तीक्ष्ण बनाने के समान है । परन्तु ऐसा मानना एक प्रकार की भूल है। हम लोग शिष्य बनाते हैं । इस समय कोई मोक्ष मे तो जाता ही नही है, अत वे देवलोक में जाएँगे और वहां सुख का उपभोग करेंगे । क्या यह पाप हमे लगना चाहिए ? अगर नही, तो फिर यही न्याय सब जगह लागू क्यो नही किया जाता ? लोग सशक्त मनुष्य द्वारा होने वाला पाप तो देखते है मगर करुणा करने वाले के उच्च भावो को नही देखते । करुणा

करने वाले की भावना पाप कराने की नही है, दुखी का दुःख दूर करने की है। ऐसी स्थिति मे करुणा करने वाले को किस प्रकार पाप लग सकता है? अतएव करुणा करने मे भावना रखो। अनुकम्पा करने में पाप है यह मान्यता ही भूलभरी है। अनुकम्पा करने वाला और दान देने वाला किसी दिन सुवाहुकुमार जैसी ऋद्धि प्राप्त कर सकता है, अन्यथा पुण्य सचय करने में तो सदेह ही नही है। इसलिए अनुकम्पा करने का प्रयत्न करो। अनुकम्पा करने मे कल्याण ही है। अपने घर से ही अनकम्पा आरम्भ करो। ज्यो ज्यो अनुकम्पा वढती जायेगी त्यो-त्यो विश्वमैत्री बढती जाएगी। अतएव सब जीवो के प्रति अनुकम्पा और दान की वृत्ति रखने का ध्यान रखो। इसी मे कल्याण है।

कहने का आशय यह है कि जो आनन्द स्वतन्त्रता मे है, वह परतन्त्रता मे नही। अतएव स्वतन्त्रता को मत भूलो। आज के लोग परावलम्बी बनते जा रहे है और उनकी आवश्यकताएँ इतनी अधिक वढ रही हैं कि उन्हे स्वतन्त्रता के विषय मे विचार करने की फुर्सत ही नही मिलती। ऐसी पराधीन दशा मे दूसरो की अनुकम्पा किस प्रकार हो सकती है? दूसरे जीवो के प्रति अनुकम्पा करने के लिए अपनी आवश्यकताएँ कम करना आवश्यक है। अपनी आवश्यकता कम करना अपने सासारिक बन्धनो को कम करने के समान है। अतएव स्वतन्त्रता की भावना को हृदय मे स्थान देकर सासारिक बन्धनो को तोडने का प्रयत्न करो। ऐसा करने मे ही स्व-पर कल्याण है।



चौंतीसवां बोल

उपधिप्रत्याख्यान

तेतीसवें बोल मे संभोग के प्रत्याख्यान के विषय में विचार किया गया । संभोग का त्याग करने से आलम्बन का त्याग भी करना पडता है। आलम्बन का त्याग करना साधारण आदमी के लिए सरल काम नहीं है । शक्तिशाली महात्मा ही आलम्बन का त्याग कर सकते हैं । जिनमें संभोग का त्याग करने की शक्ति होती है वे संभोग का त्याग कर देते हैं और साथ ही साथ उपधि (उपकरण) का भी त्याग कर देते हैं। इस कारण अब गौतम स्वामी उपधि के त्याग के विषय मे भगवान् से प्रश्न करते हैं—

मूलपाठ

प्रश्न – उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर– उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ, निरुवहिए णं जीवे निक्कखे उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सइ ॥३४॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— हे गौतम ! उपधि का त्याग करने से जीव उपकरण धरने–उठाने की चिन्ता से मुक्त हो जाता है और उपधिरहित जीव निस्पृही (स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन मे निश्चिन्त रहने वाला) होकर उपधि के अभाव मे शारीरिक या मानसिक क्लेश अनुभव नही करता ।

व्याख्यान

उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को होने वाले लाभों पर विचार करने से पहले उपधि क्या है, इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। उपधि का अर्थ है— उपकरण या साधन। यह उपकरण या साधन दो प्रकार के हैं। एक साधन तो सद्गति मे ले जाने वाला होता है और दूसरा अधोगति मे ले जाने वाला। उपधि की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'उपधीयते इति उपधि.।' अर्थात् जिससे उपधि हो वह उपधि कहलाती है। इस प्रकार कोई-कोई उपधि दुर्गति मे ले जाने वाली और कोई सद्गति मे ले जाने वाली होती है। दुर्गति मे ले जाने वाली उपधि मे धन–धान्य आदि परिग्रह का समावेश होता है और सद्गति मे पहुचाने वाली उपधि मे उन चीजो का समावेश होता है, जो सयम मे स्थिर करने वाली हैं। उपधि तो दोनो ही हैं परन्तु सर्वप्रथम अशुभ का ही त्याग किया जाता है, शुभ का नही। जिन्होने सयम धारण किया है वह दुर्गति मे ले जाने वाली धनधान्य आदि उपधि का तो पहले ही त्याग कर डालते हैं, उन्हे सिर्फ सयम मे स्थिर रखने वाली उपधि का त्याग करना शेष रहता है। शास्त्रकार कहते हैं—अगर किसी मे शक्ति हो तो सयम मे स्थित करने वाली उपधि

का भी त्याग कर देना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं—परिग्रह हमारे पास भी हैं और साधुओ के पास भी है। जैसे हमे अन्न-वस्त्र चाहिए, उसी प्रकार महाराज को भी अन्न-वस्त्र चाहिए। इस प्रकार कहने वाले लोग अपनी और साधु की एक ही गति है, ऐसा कहते जान पडते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग कहते हैं—साधु को उपकरण की क्या आवश्यकता है? साधु को तो दिगम्बर रहना चाहिए और जो साधु दिगम्बर रहता हो, वही साधु है। इस प्रकार दो अलग-अलग मत प्रचलित हैं। इन दो मतो के कारण ही परस्पर वाद-विवाद और कलह उत्पन्न हुआ करता है। पर शास्त्रकार कहते हैं कि इस तरह के वाद-विवाद मे न पडकर उपधि-उपकरण का विवेकपूर्वक त्याग करो। जो भी त्याग करो, विवेकपूर्वक ही करो। ऐसा करने मे ही त्याग की शोभा है। मान लो, किसी मनुष्य ने धोती भी पहनी है और पगडी भी पहनी है। अब अगर उसमे त्यागभावना आ जाये तो वह सर्वप्रथम किस वस्तु का त्याग करेगा? पहले धोती त्यागेगा या पगडी त्यागेगा? उसके लिए पहले पगडी का त्याग करना ही उचित है। लेकिन यदि वह आग्रह करे कि मैं तो पहले धोती त्यागूगा और पगडी पहने रखूंगा, तो क्या यह त्याग का आग्रह, विवेकपूर्वक कहलाएगा? अतएव जो कुछ भी त्याग किया जाये वह सब विवेकपूर्वक ही होना चाहिए। जिस वस्तु का त्याग करने की शक्ति नही है, उसका भी त्याग करके नवीन कठिनाइयां उपस्थित करना उचित नही हैं।

'पाच समिति और तीन गुप्ति जैनशास्त्रो का सार है।

समिति अर्थात् प्रवृत्ति और गुप्ति अर्थात् निवृत्ति । उपदेश तो गुप्ति अर्थात् मन, वचन और काय की निवृत्ति के लिए ही है, परन्तु निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति न हो तो धर्म मे गति ही कैसे होगी ? इस कारण भगवान् ने पाच समितियों के द्वारा प्रवृत्ति बतलाई है और मन, वचन, काय द्वारा अशुभ प्रवृत्ति न करने के लिए कहा गया है। प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्वक करना समिति है । चलते समय ईर्यासमिति का ध्यान रखना आवश्यक है । ईर्यासमिति का ध्यान न रखा जाये तो गुप्ति का भग होता है । अतएव चलने मे, बोलने मे, भिक्षा लेने मे, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधु को पाच समिति और तीन गुप्ति का ध्यान रखना आवश्यक है । समिति और गुप्ति प्रवचन माता कहलाती है । वीरपुत्र साधु को अपने प्राणो का भी उत्सर्ग करके प्रवचनमाता की रक्षा करनी चाहिए ।

शरीर टिकाने के लिए जब भिक्षु को भिक्षा लेनी पडती है, जब भिक्षा लेने के लिए पात्रो की भी आवश्यकता रहती है । अगर साधु पात्र न रखे और गृहस्थो के पात्र में भोजन करे या गृहस्थो के पात्र का उपयोग किया करे तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की सभावना है । यह बात दृष्टि मे रखकर ही साधुओ को काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की छूट दी गई है । जब पात्र लेकर भिक्षा के लिए जाना पडता है तो पात्र रखने के लिए झोली भी चाहिए ही और लज्जा की रक्षा के लिए वस्त्र भी चाहिए ! भगवान् ने कहा है—अगर पात्र रखोगे तो तुम अपने सयम की रक्षा कर सकोगे और रोगी या वृद्ध साधुओ की सेवा भी कर सकोगे । अगर तुम स्वय गृहस्थो के घर खाते होगे

अथवा गृहस्थों के पात्र में जीमते होगे तो वृद्ध तथा रोगी आदि संतों के लिए भिक्षा किस प्रकार और कहा से लाओगे? कदाचित् यह कहो कि हम गृहस्थो के घर जोमेगे और वृद्ध तथा रोगी साधुओ को सेवा गृहस्थ करेंगे, तो ऐसा करने मे अयतना होगी और सयम मे बाधा आएगी । अतएव सयम पालन के लिये पात्र भी उपकारी हैं ।

जो भोजन किया जाता है वह शरीर मे रसभाग और खलभाग मे परिणत होता है । खलभाग का-जो मल-मूत्र रूप होता है-त्याग करना हो पडता है । मलमूत्र का त्याग दश बोलो का ध्यान रखकर करना चाहिए ।

साधु-क्रिया से अनभिज्ञ कुछ लोगो का कहना है कि साधु मल को बिखेरते हैं, परन्तु यह कथन भ्रामक और मिथ्या है । ऐसा करने से तो साधु को प्रायश्चित्त लगता है । मलमूत्र का त्याग करने मे साधुओ को विवेक तो रखना ही पडता है, परन्तु मलमूत्र का विसर्जन करते समय साधु ऐसी कोई क्रिया नही करते कि उन्हे मलमूत्र का स्पर्श करना पडता है ।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि यह तो साधुओ के आचार-विचार की बात हुई, परन्तु शास्त्र मे गृहस्थो के लिए भी कोई धर्म बताया है या नही, और उनके लिए किसी प्रकार का विधि-विधान किया गया है या नही ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र मे गृहस्थो का धर्म न बतलाया जाये यह कैसे सभव है ? क्योकि साधुओ का धर्म गृहस्थो के धर्म पर ही आश्रित है । इसीलिए उववाई सूत्र मे कहा है—

दुविहे धम्मे पण्णत्ते, तजहा–आगारधम्मे अणगार-धम्मे य ।

अर्थात् धर्म दो प्रकार के हैं– गृहस्थधर्म और साधुधर्म ।

साधुधर्म का आधार गृहस्थ का धर्म ही है । श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र मे कहा है कि जब धर्म का नाश होगा तो सर्वप्रथम साधुधर्म का नाश होगा और फिर गृहस्थधर्म का नाश होगा । साधुधम जीवित रहे और गृहस्थधर्म नष्ट हो जाये, ऐसा कभी हो ही नही सकता, क्योकि गृहस्थधर्म, साधुधर्म का आधार है और यदि गृहस्थ लोग अपने धर्म का सम्यक् प्रकार पालन न करें तो ऐसी दशा मे साधुधर्म का भी सम्यक् प्रकार से पालन नही हो सकता । अतएव गृहस्थो को अपने धर्म का यथोचित पालन करना चाहिए । धर्म किसी व्यक्ति को, फिर वह साधु हो या गृहस्थ हो, किसी प्रकार के बन्धन मे बद्ध नही करता । धर्म तो अविवेक को दूर करता है । धर्म का कथन यह है कि जो कुछ करो, विवेकपूर्वक ही करो । गृहस्थो को विवेक समझाने के लिए ही शास्त्र मे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बतलाये गये है । इन बारह व्रतो को ही आगार-धर्म कहते हैं । पहले अहिसाव्रत मे श्रावक को हिसा का त्याग करना पडता है । गृहस्थ-श्रावक हिसा का सर्वथा त्याग नही कर सकता, अतएव उसे स्थूल हिसा का त्याग करने का विधान किया गया है । स्थूल हिसा किसे कहना चाहिए और सूक्ष्म हिसा क्या है, इस विषय मे शास्त्र मे अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया गया है । शास्त्र-

कारों ने जगत् के जीवों की सुविधा के लिए स्थूल हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है— जो जीव चलते-फिरते दिखाई देते हैं, उनका घात करना स्थूल हिंसा है। गृहस्थ-श्रावक को ऐसे जीवो की हिंसा नही करना चाहिए। जीव तो पृथ्वी, पानी आदि मे भी है, परन्तु वे प्रत्यक्ष दिखाई नही देते और गृहस्थ-श्रावक उन जीवो की हिंसा से बच नही सकता। अतएव जो जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनकी हिंसा श्रावक को नहीं करना चाहिए।

इस पर कोई गृहस्थ कह सकता है कि अगर हम ऐसी हिंसा से वचते ही रहे और अहिंसक वनकर बैठे रहें तो हमारा संसार-व्यवहार ही न चले! इसका समाधान यह है कि यह खयाल ही गलत है। एक बार एक डाक्टर साहब ने भी मुझसे ऐसा ही कहा था। उनका कहना था— 'अगर हम अहिंसक ही बन जाएँ तो ऐसी दशा मे अनेक मनुष्य मर जाएँ।' मनुष्यो को रक्षा के लिए हमे हिंसा करनी ही पडती है। रोग के कीटाणु, जो रोगी के शरीर मे होते हैं, उनका हमे विनाश करना पडता है। अगर कीटाणु नष्ट न किये जाएँ तो रोगी जीवत नही रह सकता और कीटाणुओं का नाश करने से हिंसा होती है। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए और किस प्रकार अहिंसा का पालन करना चाहिए? डाक्टर का कर्त्तव्य निभाने के लिए हमें दवा से, इन्जेक्शन से या आपरेशन से कीटाणुओ का नाश करना ही पडता है।'

डाक्टर की तरह और लोग भी कहने लगते हैं- वास्तव मे कीडो को बचाना चाहिए या मनुष्यो को बचाना चाहिए?'

मैंने उन डाक्टर साहब से कहा—'कीडे दो प्रकार के होते हैं—आरोग्यरक्षक और आरोग्यभक्षक । आरोग्यनाशक कीडो के कारण ही रोग उत्पन्न होता है । तुम लोग यह मानते हो कि हम दवा द्वारा आरोग्यनाशक कीडो को ही मारते हैं, मगर इसी मान्यता मे भूल है । वास्तव में तुम आरोग्यरक्षक कीडो को सशक्त बनाते हो । ऐसा करने से आरोग्यनाशक कीडे अशक्त होकर स्वत: मर जाते हैं । तुम आरोग्यनाशक कीडो को मार डालते हो, यह तुम्हारा खयाल गलत है । तुम ऐसा क्यो नही मानते कि दवा द्वारा तुम आरोग्यरक्षक कीटाणुओ को सशक्त बनाते हो ? इस दृष्टि से विचार करने पर तुम्हारा लक्ष्य कीडो को मारना नही वरन् सशक्त बनाना सिद्ध होता है । यही दृष्टि लक्ष्य मे रखोगे तो हिंसा करने के बदले रक्षा करने का तुम्हारा लक्ष्य रहेगा । उदाहरणार्थ जब दीपक जलाया जाता है तो अंधकार स्वत: नष्ट हो जाता है । परन्तु यह नही कहा जाता कि अंधकार नष्ट हुआ, वरन् यही कहा जाता है कि दीपक उजल गया है । इसी प्रकार अगर दवा द्वारा कीटाणुओ को सशक्त बनाना कहा जाये और ऐसा ही माना जाये तो हिंसा के समर्थन के बदले अहिंसा का समर्थन होता है ।

संसार मे कुछ लोग अंधकार का समर्थन करने वाले निकल आएँगे और कुछ प्रकाश का समर्थन करने वाले निकलेंगे, परन्तु प्रकाश का समर्थन करने वाले शुक्लपक्षीय कहलाएँगे और अंधकार का समर्थन करने वाले कृष्णपक्षीय कहलाएँगे । प्रकाश तो शुक्लपक्ष मे भी रहता है और कृष्ण-पक्ष मे भी रहता है, फिर भी एक को शुक्लपक्ष और दूसरे को कृष्णपक्ष क्यो कहते हैं ? इसका कारण यही है कि एक

पक्ष प्रकाश का समर्थक है और दूसरा पक्ष अधकार का समर्थक है। इसी कारण दोनो पक्षो के नाम भिन्न-भिन्न हैं। साधारणतया देखा जाये तो पूर्णिमा के बाद आने वाली प्रतिपद् के दिन अधकार कम होता है और प्रकाश अधिक होता है, परन्तु वह पक्ष अधकार का पक्षपाती होता है, इसी कारण उसकी गणना कृष्णपक्ष मे करते है। इसी तरह शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन नाम मात्र को ही प्रकाश होता है, फिर भी वह पक्ष प्रकाश का पक्षपाती है, इसी कारण उसकी गणना शुक्लपक्ष मे की गई है। ससार मे तो शुक्लपक्षीय लोग भी रहेगे और कृष्णपक्षीय भी रहेगे। मगर तुम विवेकपूर्वक विचार करो कि इन दोनों मे से तुम्हे किस पक्ष मे रहना है? तुम हिंसा के पक्ष में रहना चाहते हो या अहिंसा के पक्ष में रहना चाहते हो? विवेक के साथ तुम्हें निर्णय करना चाहिए।

शास्त्र में शुभाशुभ भावों की शुक्लता और कृष्णता बतलाकर छह लेश्याओं के विषय मे विचार किया गया है। छह लेश्याओं में तीन लेश्याए तो शुभ अर्थात् धर्म की द्योतक हैं और तीन अशुभ अर्थात् पाप की द्योतक हैं। इन शुभाशुभ लेश्याओ को उदाहरण द्वारा समझाता हूं।

अलग-अलग प्रकृति वाले छह मनुष्य कुल्हाडिया लेकर घर से बाहर निकले। रास्ते मे उन्होंने आम्रफल से झुका हुआ आम्रवृक्ष देखा। पके आम देखकर सब ने खाने का विचार किया। मगर वृक्ष बहुत ऊचा था। प्रश्न उपस्थित हुआ—आम किस तरह खाये जाए?

उन छह मे से एक ने कहा—अपने पास कुल्हाडी है।

वृक्ष को मूल से ही काट गिराया जाये तो सरलता से आम ले सकेंगे। इस प्रकार पहले मनुष्य ने केवल आमो के लिए सारे वृक्ष को ही काट डालने का विचार किया। शास्त्र कहता है, इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाला है। क्योकि वह थोडे से लाभ के लिए महान् अनर्थ करने को तैयार हुआ है। वृक्ष काट डालने से केवल उन्हे ही थोडे से फल मिल जाएगे, परन्तु वृक्ष अगर कायम रहा तो न जाने कितने लोगो को आम मिलेंगे ! ऐसा होने पर भी वह मनुष्य स्वार्थ मे अंधा होकर महान् अनर्थ करने पर उतारू हो गया है। वह कृष्णलेश्या वाला है।

दूसरे मनुष्य ने पहले से कहा—'भाई ! सारा पेड काटने से क्या लाभ ! अगर वृक्ष की शाखाओ को काट लिया जाये तो फल भी मिल जाएगे और वृक्ष भी कायम रह सकेगा।' इस दूसरे मनुष्य की लेश्या भी थोडे लाभ के लिए विशेष हानि करने की है, फिर भी पहले मनुष्य की अपेक्षा अच्छी है। अतएव दूसरा मनुष्य नीललेश्या वाला कहलाता है।

तीसरे मनुष्य ने कहा 'भाई ! आम तने मे तो लगे नही। आम तो छोटी–छोटी डालियो मे लगते हैं, फिर वृक्ष की शाखा काटने से क्या लाभ है ? छोटी डालियाँ काट लेना ही अच्छा है, इससे हमे आम भी मिल जाएगे और वृक्ष भी बचा रहेगा।' इस तीसरे मनुष्य के विचार के अनुसार कार्य होने मे हानि अधिक और लाभ थोडा है, अतएव इसकी लेश्या कापोती होने के कारण पापकारिणी तो है ही, फिर भी पहले और दूसरे मनुष्य की लेश्या की

अपेक्षा यह लेश्या अच्छी है। यह तीनो लेश्याएँ पापकारिणी और अप्रशस्त मानी जाती हैं।

चौथे मनुष्य ने कहा—'भाई ! डालियाँ काटने से पत्ते भी कट जाएँगे और वृक्ष छाया देने योग्य नही रह जाएगा। हमे तो आमो से मतलब है, अतएव सब आम गिरा लिये जाएँ तो ठीक है।' इस चौथे की भावना पूर्वोक्त तीनो की अपेक्षा प्रशस्त है और इसीलिए उसकी लेश्या तेजोलेश्या कहलाती है। यह तेजोलेश्या, पद्मलेश्या से हीन होने पर भी पहली तीनो लेश्याओ से अच्छी है। इसी लेश्या से धर्म का आरम्भ होता है।

पाचवें मनुष्य ने कहा -'भाई ! सभी आम गिराने से भी क्या लाभ ? अगर पके पके आम तोड लिए जाए तो ठीक है। कच्चे आम जब पकेगे तो दूसरो के काम आएगे।' इसकी लेश्या पद्मलेश्या है। यद्यपि पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या से नीची है फिर भी पूर्वोक्त चारो की अपेक्षा प्रशस्त है। यह लेश्या धर्मरूप है।

छठा शुक्ललेश्या वाला मनुष्य है। इसने कहा—भाइयो ! तुम पके आम खाना चाहते हो तो फिर इतना अनर्थ क्यो करते हो ? वृक्ष उदार होता है। वह पके फलो को अपने पास सग्रह करके नही रखता लोगो के हित के लिए नीचे गिरा देता है। अगर अभी हवा चलेगी तो पके आम स्वय नीचे गिर जाएगे। इसलिए थोड़ी देर राह देखो।' इस मनुष्य की भावना अत्यन्त उच्च है। इसे शुक्ललेश्या कहते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ लेश्या कही गई है। यद्यपि आम तो सभी को खाने हैं परन्तु आम प्राप्त करने के प्रयत्नो

मे अन्तर है !

इस प्रकार छह लेश्याओं में तीन पापकारिणी और तीन धर्मकारिणी हैं। इसका कारण यही है कि तीन लेश्याएं पाप का पक्ष लेने वाली हैं और तीन धर्म का पक्ष लेने वाली हैं। जिस व्यक्ति मे धर्म होगा और जो धर्म का पक्ष लेता होगा, वह तो हिंसा से बचने का ही प्रयत्न करेगा

कहने का आशय यह है कि संसार मे हिंसा और अहिंसा दोनों के स्वतन्त्र पक्ष हैं। परन्तु तुम्हे तो अहिंसा का पक्ष लेना चाहिए और हिंसा से बचना चाहिए। तुम्हारे लिए स्थूल हिंसा त्याज्य है। स्थूल हिंसा के भी दो भेद किये गये हैं एक संकल्पी हिंसा और दूसरी आरम्भी हिंसा है। आरम्भ की हिंसा का गृहस्थ त्याग नही कर सकता, अतः उसकी गृहस्थ के लिए छूट है। खेती करने मे अगर कोई कीडा आदि मर जाये तो उससे तुम्हे कोई पापी नही कह सकता, अगर जान-बूझकर तुम कीडो को मारोगे तो अवश्य पापी कहलाओगे, क्योंकि वह हिंसा संकल्प की हिंसा है। संकल्पी हिंसा भी दो प्रकार की है—अपराधी की हिंसा और निरपराध की हिंसा। इनमे से निरपराध जीव का मारना तुम्हारे लिए वर्ज्य है। श्रावकों को अपराधी को मारने का त्याग नही होता। किन्तु निरपराध जीव को मारने का त्याग श्रावक को करना ही चाहिए। निरपराधी जीव को संकल्प करके मारने मे व्यवहार मे भी तुम पापी कहलाओगे। इस प्रकार तुम्हारे लिए चलते-फिरते जीव को (जो व्यवहार में भी जीव माने जाते हैं) संकल्पपूर्वक मारने का त्याग करना आवश्यक है। स्थूल हिंसा से बचना श्रावक का पहला अहिंसाव्रत है।

श्रावक अपराधी को मारने का त्यागी नही होता। लोग कहते हैं कि अहिंसा का पालन करने से कायरता आती है। परन्तु ऐसा कहना भूल है। जान पडता है, यह भ्रमपूर्ण मान्यता कुछ जैन नामधारी लोगो के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है। जैनधर्म गृहस्थ के लिए यह नही कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिए जैनधर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नही ठहराया है और न अपराधी को दण्ड देने वाले को पापी ही कहा है। यह बात स्पष्ट करने के लिए यहा एक उदाहरण दिया जाता है:—

जिस समय भारतवर्ष मे चारो ओर अराजकता फैलती जा रही थी, और शक्तिशाली लोग अशक्तो को सता रहे थे, उस समय नौ लिच्छवो और नौ मल्ली नामक अठारह राजाओं ने मिलकर एक गण-सघ की स्थापना की थी। इस गणसघ का उद्देश्य सबलो द्वारा पीडित निर्बलो की रक्षा करना था। गणसघ के अठारह गणराजाओ का गणनायक (President) चेटक राजा था। राजा चेटक या चेडा भगवान् महावीर का पूर्ण भक्त था आज तुम लोग ढीली धोती पहनने वाले बनिया बन रहे हो, परन्तु जैनधर्म क्षत्रियो का धर्म है। तुम्हे धर्म ने बनिया नही बनाया है। तुम महाजन बने थे। व्यापार मे लग जाने के कारण आज तुममे गुलामी का भाव आ गया है और तुम बनिया बन गये हो। स्वार्थ की अधिकता के कारण तुम्हारे हृदय मे कायरता और गुलामी घुस गई है। वास्तव मे तुम वणिक नही, महाजन हो।

सशक्त लोगो से निर्बलों की रक्षा करने के लिए ही

गणसघ की स्थापना की गई थी। जिस समय की यह घटना है उस समय चम्पा नगरी मे कोणिक राजा राज्य करता था। कोणिक राजा श्रेणिक का पुत्र था। कोणिक के बारह भाई थे, जिनमे सब से छोटे भाई का नाम बहिलकुमार था। बहिलकुमार के पास एक कीमती हार और एक हाथी था। यह हार और हाथी उसके पिता ने उसे पुरस्कार दिया था। बहिलकुमार को राज्य मे कोई हिस्सा नही मिला था। उसने हार और हाथी पाकर ही सतोष मान लिया था।

बहिलकुमार हाथी पर सवार होकर आनन्दपूर्वक क्रीडा करता था। लोग उसकी प्रशसा करते हुए कहते थे- राज्य के रत्नो का उपभोग तो बहिलकुमार ही करते हैं। कोणिक के लिए तो केवल राज्य का भार ही है। लोगो का यह कथन कोणिक की रानी पद्मा के कानो तक पहुचा। रानी ने विचार किया—'किसी भी उपाय से वह हार और हाथी राज्य मे मगवाना चाहिए।' यह सोचकर रानी ने कोणिक से कहा-'नाथ! राजा आप हैं मगर राज्य के रत्नों का—हार और हाथी का-उपभोग बहिलकुमार करता है। तुम्हारे पास तो केवल निस्सार राज्य ही है!'

कोणिक ने कहा - स्त्रियों की बुद्धि बहुत ओछी होती है। इसी कारण तू ऐसा कहती है। बहिलकुमार के पास तो सिर्फ हार और हाथी है, मगर मैं तो सारे राज्य का स्वामी हू। इसके अतिरिक्त बहिलकुमार के पास हार और हाथी है तो कोई गैर के पास थोड़े ही है! आखिर है तो मेरे भाई के पास ही न?

रानी पद्मा ने सोचा - मेरी यह युक्ति काम नही आई।

अब दूसरा कोई उपाय काम में लाना चाहिए । यह सोच-कर उसने कोणिक से कहा—तुम्हे अपने भाई पर इतना अधिक विश्वास है, यह मुझे नहीं मालूम था । तुम्हे इतना विश्वास है, यह अच्छा ही है। मगर एक बार अपने विश्वा-सपात्र भाई की परीक्षा तो कर देखो कि उन्हें तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है और तुम्हारे विश्वास पर वह हार तथा हाथी भेजता है या नही ?

कोणिक को यह बात पसन्द आ गई । उसने बहिल-कुमार के पास सदेशा भिजवा दिया—इतने दिनो तक हार और हाथी का उपभोग तुमने किया है। अब कुछ दिनो तक हमे उपभोग करने दो ।

यह सदेश पाकर बहिलकुमार ने सोचा अब कोणिक की नजर हार और हाथी पर पडी है । वह प्रत्येक उपाय से हार-हाथी को हस्तगत करने की चेष्टा करेगा । मुझे राज्य मे कोई हिस्सा नही मिला । फिर भी मैंने हार-हाथी पाकर ही सतोष मान लिया । अब यह भी जाने की तैयारी मे है !

इस प्रकार विचार कर और हार तथा हाथी को बचाने के लिए बहिलकुमार रात्रि के समय निकल पड़ा और अपने नाना राजा चेटक की शरण में जा पहुंचा । बहिलकुमार ने राजा चेटक को सारी घटना कह सुनाई । चेटक ने सम्पूण घटना सुनकर बहिलकुमार से कहा—'तुम्हारी बात ठीक है ।' राजा चेटक ने उसे अपने यहा आश्रय दिया ।

बहिलकुमार हार और हाथी लेकर बाहर चला गया है, यह समाचार सुनते ही पद्मा रानी को कोणिक के कान

भरने के लिए पूरी सामग्री मिल गई। वह कोणिक के पास जाकर कहने लगी—तुम जिसे भाई-भाई कहकर ऊँचा चढाते थे, उसकी करतूत देख ली न ! तुम्हारे भाई को तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है ! उसने हार और हाथी नही भेजा। इतना ही नही, कदाचित् तुम जबर्दस्ती हार-हाथी लूट लोगे। इस भय से वह अपने नाना की शरण मे भाग गया है। वहाँ जाने की कोई खबर भी उसने तुम्हारे पास नही भेजी। अब मैं देखती हू कि तुम क्या करते हो और हार तथा हाथी प्राप्त करने के लिए कैसी वीरता दिखाते हो !

इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण बाते कहकर पद्मा ने कोणिक को खूब भडकाया। पद्मा की यह बाते सुनकर कोणिक को भी क्रोध आ गया। वह कहने लगा मैं चेडा राजा के पास अभी दूत भेजता हू। अगर चेडा राजा बुद्धिमान् होगा तो बहिलकुमार को हार और हाथी के साथ मेरे पास भेज देगा।

कोणिक का दूत राजा चेटक के पास पहुचा। दूत का कथन सुनकर चेटक ने उत्तर मे कहला दिया—मेरे लिए तो कोणिक और बहिलकुमार दोनो सरीखे हैं। परन्तु जैसे कोणिक ने अपने दस भाइयो को राज्य मे हिस्सा दिया है उसी प्रकार बहिलकुमार को भी हिस्सा दिया जाये अथवा हार और हाथी रखने का अधिकार उसे दिया जाये।

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय-अन्याय कौन देखता है ! जिसके हाथ मे सत्ता है, वह तो यही कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उगली उठावे उधर ही पूर्व दिशा है।

चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर कहला भेजा–हम राजा हैं। रत्नो पर राजा का ही अधिकार होता है। तुम्हें हमारे बीच मे पडने की कोई आवश्यकता नही है। वहिलकुमार को मेरे पास भेज दो। हम भाई-भाई आपस मे निपट लेंगे।

दूत ने चेटक के पास पहुंचकर कोणिक का सन्देश सुनाया।

कोणिक ने अपने सन्देश में राज्य का हिस्सा देने के विषय मे कुछ भी नही कहलाया था। अतएव चेटक ने यही प्रत्युत्तर दिया—अगर कोणिक, बहिलकुमार को राज्य मे हिस्सा देने को तैयार हो, तब तो ठीक है। मगर उसने इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहलाया। ऐसी स्थिति में बहिलकुमार को कैसे भेज सकता हू? सबलो से निर्बलो की रक्षा करना तो हमारी प्रतिज्ञा है।

दूत फिर चम्पानगरी लौट गया और चेटक का उत्तर कोणिक से कह दिया। कोणिक को अपनी शक्ति का अभिमान था। उसने राजा चेटक को कहला दिया—या तो वहिलकुमार को हार-हाथी के साथ मेरे पास भेज दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

चेटक राजा ने अपने गणसंघ के सब सदस्यो को एकत्र किया और सम्पूर्ण घटना से परिचित किया। ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए, इस विषय मे उनकी सम्मति पूछी। आगे-पीछे का विचार करने के वाद सभी राजा इस निर्णय पर पहुंचे कि—क्षत्रिय होने के नाते सबलो द्वारा सताये जाने वाले निर्बलो की रक्षा करना हमारा धर्म है।

अपने गणसघ का उद्देश्य भी निर्बलो की रक्षा करना है। बहिलकुमार न्याय के पथ पर है। न्यायदृष्टि से उसे कोणिक के पास भेज देना उचित नही है। युद्ध करके शरणागत की रक्षा करना ही हम लोगो का कर्त्तव्य है।

गणराजा अपने धर्म का पालन करने के लिए अपने प्राण तक देने पर उतारू हो गये। परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के लिए कुछ करते हो ? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोडा-सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो ? स्वार्थ त्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। गणराजाओ जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाये तो तुम क्या करोगे ? कदाचित् तुम यही सोचोगे कि - कहा का हार और कहा का हाथी ! हमारा उससे क्या लेन-देन है ? मगर क्या यह राजा लोग ऐसा नही सोच सकते थे ? वास्तव मे इस प्रकार का विचार करना कायरता का काम है। वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नही करते। वे दूसरो की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। आज तो लोगो मे कायरता व्याप गई है। यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है, मगर लोगो का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है। यह कहना एक गम्भीर भूल है। धर्म के कारण कायरता कदापि नही आ सकती। वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं।

समस्त गणराजाओ के साथ चेड़ा राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया। इधर कोणिक राजा भी अपने दसो भाइयो के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ। यद्यपि कोणिक के दस भाई कह सकते थे कि हम सब को राज्य का हिस्सा मिला

है तो वहिलकुमार को भी हिस्सा मिलना चाहिए, परन्तु उन्होने भी सत्ता के सामने मस्तक झुका दिया। इतिहासवेत्ताओ का कथन है कि गणराज्य प्रजातन्त्र राज्य के समान था। परन्तु दूसरे राजा स्वच्छन्द थे और गरीबो पर अन्याय करते थे।

गणराजाओ की सेना का नेतृत्व चेटक ने ग्रहण किया। वास्तव मे धार्मिक व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए सदा आगे ही रहता है। आज के प्रमुख तो कार्य करने के समय नौकरों को आगे कर देते हैं परन्तु चेटक राजा स्वय अगुवा बना और उसने अपनी युद्धकला का परिचय दिया राजा चेटक ने अपनी अचूक वाणावली के द्वारा कोणिक के भाइयो का शिरच्छेद कर डाला।

अपने भाइयो के मर जाने से कोणिक भयभीत हो गया। कोणिक ने तप आदि द्वारा इन्द्रो की आराधना की। उसकी आराधना के फलस्वरूप शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र आया। शक्रेन्द्र ने कोणिक से कहा— तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण नही है और चेटक राजा का पक्ष न्यायपूर्ण है।

कोणिक बोला— कुछ भी हो, इस समय तो मेरी रक्षा करो।

शक्रेन्द्र ने उत्तर दिया—मैं अधिक तो कुछ नही कर सकूंगा, सिर्फ चेटक राजा के वाण से तुम्हारी रक्षा करूंगा। मैं उनका वाणवेध चुका दूगा।

चमरेन्द्र बोला—तुम मेरे मित्र हो, इस कारण मैं सेनावैक्रिय करूगा और रथमूसल का सग्राम वैक्रिय करके तुम्हे विजय दिलाऊगा।

चमरेन्द्र से इस प्रकार आश्वासन पाकर कोणिक बहुत प्रसन्न हुआ । अब कोणिक फिर तैयार होकर राजा चेटक के सामने युद्ध करने आ पहुचा । भगवान् ने कहा-- उस सग्राम मे एक करोड अस्सी लाख मनुष्य मारे गये ।

भगवतीसूत्र मे भी एक ऐसा उदाहरण आया है । वरुण नागनतुआ नामक एक श्रावक था । यह श्रावक बेले बेले पारणा करता था । वह चेटक राजा का सामन्त था । एक वार उसे युद्ध मे आने के लिए कहा गया । उस समय उसके दूसरा उपवास था । क्या ऐसा उपवास करने वाले को युद्ध मे जाना उचित था ? क्या वह नही कह सकता था कि मैं उपवासी हू । युद्ध मे कैसे जा सकता हू ? परन्तु उसने ऐसा कोई उत्तर न देते हुए यही कहा कि अवसर आने पर सेवक को स्वामी की सेवा करनी ही चाहिए । स्वामी की सेवा करने के ऐन मौके पर कोई बहाना बनाकर किनारा काटना अनुचित है । अवसर आने पर नमकहराम बनना क्या हरामखोरी नही है ?

आज भारतवर्ष मे बडी हरामखोरी दिखाई देती है । जो लोग भारत का अन्न खाते है वही भारत की नाक कटाने वाले कामो मे शामिल होते है । जो वस्त्र भारत को गुलाम बनाते है, उन्ही को वे अपनाते है । भारत को सभ्यता का, रहन-सहन आदि को भुला देते है । यह नमकहरामी नही तो क्या है ? वायसराय गवर्नर आदि आते है और भारत का शासन करते है, पर उन्हे भारतीय वेषभूषा पहनने के लिए कहा जाये तो क्या वे कहना मानेगें ? वे यही उत्तर देगे कि हम तो अपनी मातृभूमि की सेवा बजाने आये हैं,

द्रोह करने नही । अतएव हम अपना वेष कैसे छोड सकते है ? इस प्रकार अग्रेज लोग भारत मे रहते हुए भी अग्रेजी पोशाक पहनकर फूले नही समाते । यह कृतघ्नता के सिवाय और क्या है ? पोशाक और रहन-सहन से मातृभूमि की पहचान होती है । मगर आज भारत का रहन-सहन बदल गया है । सभ्यता बदल देने से मातृभूमि के प्रति द्रोह होता है । देशहित की दृष्टि से भी भारतीय सस्कृति अपनाने योग्य है ।

वरुण नागनतुआ वीर होने के कारण ही, उपवासी होता हुआ भी, देशरक्षा के लिए युद्ध में शामिल हो गया । मगर आज कायरता आ जाने के कारण देश, समाज और धर्म का पतन हो रहा है ।

कहने का आशय यह है कि चेटक राजा और वरुण नागनतुआ ने श्रावक या सम्यग्दृष्टि होने पर भी सग्राम लडा । फिर भी उनका स्थूल अहिसाव्रत खडित न हुआ । इसका कारण यही है कि वे निरपराध को ही मारने के त्यागी थे । ऐसी अवस्था मे उनका स्थूल अहिसाव्रत कैसे भग हो सकता था ? अपराधी को मारने का समावेश स्थूल हिसा मे नही होता । राज्य भी ऐसे कामो को अपराध नही गिनता । लोग अपराधी को दण्ड देने के समय दूर-दूर भागते हैं और निरपराध के गले पर कलम कुठार चलाने के लिए तैयार हो जते है । यह उनकी कायरता है ।

उक्त कथन का आशय यह है कि गृहस्थधर्म मर्यादा-युक्त है । गृहस्थधर्म का पालन करने से आत्मा का विकास भी होता है और सासारिक काम भी नही रुकता । जैन-

धर्म वीर का धर्म है। इस वीर धर्म में कायरता के लिए लेश मात्र भी गुंजाइश नही। जिसमे वीरता होगी वही जैनधर्म का भलीभांति पालन कर सकेगा। आज कायरता को पोषने का जो अपवाद जैनधर्म पर लगाया जाता है, उसका प्रधान कारण जैन कहलाने वालो का कायरतापूर्ण व्यवहार ही है। अगर जैनधर्म का यथोचित पालन किया जाये तो देश, समाज और धर्म का उत्थान हुए बिना नहीं रह सकता। धर्मपालन के लिए वीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य अपनी ही रक्षा नही कर सकता वह दूसरो की रक्षा कैसे कर सकता है? देश, समाज और धर्म के उत्थान के लिए सर्वप्रथम नैतिक बल प्राप्त करने की आवश्यकता है।

तुम श्रावकधर्म का गम्भीर विचार करो और उसका भलीभांति पालन करने का प्रयत्न करो। अगर तुम सभी वस्तुओ के त्यागी होते या साधु होते तो तुम्हे इस विषय में इतना अधिक कहने की आवश्यकता न होती। तुम गृहस्थ-श्रावक हो और इसीलिए तुम्हे समष्टि का ध्यान रखकर नियम बनाने चाहिए। व्यक्तिगत प्रश्नो को एक ओर रखकर समष्टि के हित का श्रावको को खास ध्यान रखना चाहिए। अगर तुम अपने गृहस्थधर्म का बराबर पालन करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। अब मूल विषय पर आना चाहिए।

उपधि की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकार कहते है— जिसके प्रताप से आत्मा दुर्गति को प्राप्त हो वह उपधि है। श्रीस्थानागसूत्र में उपधि के तीन भेद कहे गये हैं (१) कर्म-उपधि (२) शरीरउपधि और (३) बाह्य भंडोप्रकरण उपधि।

कर्म भी उपधि है और इसी उपधि के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुडा हुआ है । कर्म उपधि के कारण ही आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव करना पडता है । परन्तु सुख-दुःख बाहर से आये है, इस प्रकार आत्मा का मानना भूल है। कर्म-उपाधि के कारण ही आत्मा को शरीर धारण करना पड़ता है । आत्मा जब शरीरधारी बना है तो उसे अनेक बाह्य वस्तुओ की भी आवश्यकता रहती है। आत्मा इन बाह्य वस्तुओ को अपनी मानकर भयानक भूल करता है। मकान लकडी, पत्थर, मिट्टी आदि से बनता है । परन्तु आत्मा उसे अपना समझ बैठता है। जबतक मकान, लकडी पत्थर आदि से नही बना था तब तक आत्मा को उसके प्रति ममत्व भाव नही था । परन्तु घर जब तैयार हो गया तब आत्मा ममता के कारण उसे अपना मानने लगा । इस प्रकार कर्मउपधि और शरीरउपधि के कारण ही बाह्य उपकरणो की आवश्यकता उपस्थित होती है और फिर उन बाह्य उपकरणो के प्रति ममता का भाव जागृत हो जाता है । शास्त्र के कथनानुसार यह उपधि ही उपाधि है । यह उपधि आत्मा को ससार-जाल मे फंसाने वाली है । अतएव उपधि के त्याग का यथाशक्ति प्रयत्न करो और बाह्य पदार्थों के प्रति जो ममत्वभाव बन्ध गया है उसे शक्य प्रयत्न द्वारा दूर करो ।

प्रश्न किया जा सकता है कि उपधि का त्याग किस प्रकार किया जाये और पदार्थों सम्बन्धी ममता का निवारण किस प्रकार किया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धर्म की आराधना करने से उपधि का त्याग भी हो सकता है और ममत्व भी दूर हो सकता है । धर्म दो प्रकार का

है आगारधर्म अर्थात् गृहस्थधर्म और अनगारधर्म अर्थात् साधुधर्म । दोनो प्रकार के धर्म की श्रद्धा तो समान ही है, केवल स्पर्शना-आराधना मे अन्तर है । अतएव अगर आज तुम शास्त्र के इस कथन को जीवन मे सक्रिय रूप नही दे सकते तो इतना तो मानो कि उपाधि, उपाधि ही है और आत्मा तथा इतर पदार्थ भिन्न-भिन्न है । सासारिक पदार्थों मे जितनी कम ममता होगी उतना ही अधिक सुख मिलेगा और जितनी ज्यादा ममता होगी उतना ही अधिक दुःख होगा । जब तक तुम इन पदार्थों की ममता मे फँसे रहोगे तब तक आत्मा की उन्नति नही हो सकेगी । आज का विज्ञान भी यही कहता है कि जो मनुष्य दूसरो के फँदे मे फँसा रहता है वह अपना विकास नही कर सकता। ममत्व का त्याग करने वाला ही अपना विकास कर सकता है। कमल जल मे लिप्त होकर रहे तो उसका विकास नही हो सकता । वह जल से अलिप्त होकर जब बाहर निकलता है तभी उसका विकास होता है। यही बात आत्मा के विकास के लिए लागू होती है । आत्मा भी जब तक बाह्य पदार्थों मे लिप्त रहता है, तब तक वह अपका विकास नही साध सकता । जब वह पदार्थों के ममत्वलेप से रहित हो जाता है तभी अपना विकास साध सकता है इसीलिए शास्त्रकारों ने उपाधि के त्याग का उपदेश दिया है। भगवान् ने कहा है- उपधि का त्याग करने से आत्मा कर्मरहित बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है । इस प्रकार एक तरह की उपधि का त्याग करने से प्राप्त होने वाला फल कहा गया है।

एक उपधि ऐसी भी है जिससे सयम मार्ग की पुष्टि होती है । प्रश्न किया जा सकता है कि एक ओर तो उपधि

का त्याग करने के लिए कहा जाता है और दूसरी ओर उपधि से सयम की पुष्टि होना बतलाया जाता है। इसका क्या कारण है? इसका समाधान यह है कि उपधि बधन-रूप होने से त्याज्य है और दूसरी सयम मे सहायक होने के कारण, विवश होकर रखनी पडती है। इसी कारण वह ग्राह्य है। यह बात एक साधारण उदाहरण द्वारा विशेष स्पष्ट की जाती है।

कल्पना करो, किसी मनुष्य के पैर मे फोडा हो गया है। डाक्टर ने मलहम लगा कर पट्टी बाधने के लिए कहा। डाक्टर के कथनानुसार उसने मलहम लगाया और पट्टी बाध ली। अब यहा विचारणीय यह है कि उसने कपडे की पट्टी ममता के कारण बाधी है या दुःख दूर करने के लिए बाधी है? आखिर वह पट्टी को छोड ही देने वाला है। मगर जब तक उसके पैर में फोडा है, तब तक उसे पट्टी बाधनी पड़ेगी। पैर मे फोडा न होता तो वह पट्टी क्यो बाधता? पैर मे पट्टी बाधने की इच्छा तो उसकी है नही, फिर भी फोडे की पीडा जब तक बनी है तब तक विवश होकर उसे पट्टी बाधनी पड़ती है।

यही बात साधुओ की उपधि के विषय में समझना चाहिए। साधु सयम का पालन करने के लिए ही उपधि रखते हैं। अगर रखकर अर्थात् वस्त्र-पात्र आदि संयम के साधन रखकर साधु अभिमान करे तो वह उसी प्रकार अनुचित है, जैसे फोडा न होने पर भी पट्टी बाँधना अनुचित है। परन्तु जैसे फोडा होने पर पट्टी बाधना अनुचित नही है, उसी प्रकार निरभिमान होकर और अपनी अशक्ति को

स्वीकार करके उपधि रखना साधुओ के लिए अनुचित नहीं है। शहरो मे कितने ही भिखारी भीख मागने के लिए पैर पर कपडा वाध कर ढोग करते हैं ऐसा ढोग करना दूसरी वात है। ऐसा ढोग करके उपधि रखने वाले की सभी ने निंदा की है। परन्तु फोडा होने पर जैसे पट्टी वाधना अनुचित नही है, उसी प्रकार सयम का पोपण करने वाली उपधि को, जव तक कर्मों का नाश न हो जाये तब तक या उपधि त्याग करने की शक्ति आने तक, रखना अनुचित नही है। हाँ, उपधि रखकर अभिमान करना या आनन्द मानना उसी प्रकार मूर्खता है, जिस प्रकार फोडा न होने पर भी पैर मे पट्टी वाँधना मूर्खता है। भगवान् कहते है, जिस वस्तु की जितनी अनिवार्य आवश्यकता है उतनी ही उपाधि रखनी चाहिए, परन्तु जिसकी आवश्यकता नही है और जिसका त्याग करने की शक्ति है, उस वस्तु को अपनाये रखना भी मूर्खता है। फिर भी जव तक उपधि रखनी पड रही है तब तक किसी प्रकार का अभिमान न करना चाहिए। ऐसा न हो कि सुन्दर वस्त्र और सुन्दर अन्य वस्तुएँ रखे और फिर उन पर ममत्व एव अभिमान करे। फोडे पर जो पट्टी वाधी जाती है, वह आघात आदि से वचने के लिए ही है, सुन्दरता वढाने के लिए नही। इसी प्रकार साधु जो वस्त्र रखते हैं सो लज्जा की रक्षा के लिए ही हैं तथा शरीर को शीत और ताप के आघात से वचाने के लिए हैं, जिन्हे सहन करने की शक्ति साधु में अभी तक नही आई है। अतएव साधुओ को वस्त्र आदि रखने मे शृङ्गार की भावना से वचना ही चाहिए। शृङ्गार की भावना होने पर वस्त्र आदि उपाधि सयम में वाधक सिद्ध होती है।

शक्ति न होनें पर भी उपधि का त्याग कर देना उचित नही, ऐसा करनें से अनेंक अनर्थं उत्पन्न होनें की सभावना रहती है । जैसे फोडा मिटने से पहले ही पट्टी उतार देने से फोडे के बढ जानें का, पक जाने का या उसमें कीडे पड जाने का भय रहता है, उसी प्रकार शक्ति न होनें पर भी उपधि का त्याग करने से अनेंक अनर्थ होने की सभावना रहती है। अतएव उपधि का त्याग करने मे विवेक की आवश्यकता है । अगर शक्ति हो तब तो उपधि का त्याग करना ही चाहिए । अगर शक्ति न हो तो सयम के निर्वाह के लिए उपधि रखना कुछ बुरा नही है । हाँ, उपधि के कारण अभिमान करना तो बुरा ही है । शास्त्र कहता है कि साधुओ को तो ऐसी ऊँची भावना भानी चाहिए कि वह शुभ अवसर कव मिलेगा जब मैं सब प्रकार की उपधि का त्याग कर जिनकल्पी बनकर विचरूगा । जब साधुओं को ऐसी उच्च भावना भाने के लिए कहा गया है तो फिर उपधि रखने के कारण साधुओ को अभिमान क्यो करना चाहिए? उपधि रखकर अभिमान करने से संयम का पोषण करनें वाली भी दुर्गति-के मार्ग पर ले जानें वाली वन जाती है।

उपधि के त्याग से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फर्माया—उपधि का त्याग करने वाला भय आदि क्लेश से रहित हो जाता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का भय नही रहता । उपधि का त्याग करने से जीवात्मा किस प्रकार निर्भय बनता है, यह वात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है:—

मान लो, एक आदमी सोने का हार पहन कर जगल मे गया है और दूसरे आदमी ने सोने का कुछ भी गहना

नही पहना । अब जगल मे चोर मिल जाये तो किसे भय लगेगा ? अगर सोने का हार पहने वाले के हृदय मे हार के प्रति ममत्व न होगा और निर्भय होकर वह विचार करेगा कि सोना क्या चीज है ! चोर ले जाये तो भले ही ले जाय, तो उसे भय होने का कोई कारण नही। अगर हार के प्रति उसे ममता होगी तो चोर का भय लगे बिना नही रहेगा। सोने के प्रति ममत्व होने के कारण कभी-कभी सोने के साथ जान जाने का भी भय हो जाता है।

जिस प्रकार सोने के प्रति ममता न होने के कारण मनुष्य निर्भय बन जाता है, उसी प्रकार उपधि का त्याग करने से जीवात्मा क्लेशरहित हो जाता है । बाह्य उपधि का त्याग करने के बाद कर्म की और शरीर की जो उपधि शेष रह जाती है, उसके लिए भगवान् ने कहा—बाह्य उपधि की भाति कर्म और शरीर की उपधि का भी त्याग करना चाहिए। उपधि का त्याग करने से ज्ञान, ध्यान तथा स्वाध्याय भी भलीभाति हो सकता है । जब तक उपधि होती है तब तक उपकरणो की सार-सभाल भी रखनी पडती है और उनके उठाने-धरने की भी चिन्ता करनी पडती है। इसी प्रकार जब तक शरीर की उपधि बनी है तब तक भोजन-पानी लेने के लिए जाने मे भी समय का भोग देना ही पडता है । अतएव उपधि का जितना त्याग हो सके उतना ही अच्छा है। लेकिन अपनी शक्ति देखकर ही उपधि का त्याग करना उचित है । उपधि के त्याग की शक्ति न हो तो उपधि के कारण अभिमान नही करना चाहिए वरन् ऐसी उच्च भावना भानी चाहिए कि मैं इस उपधि का त्याग करने के लिए कब समर्थ हो सकूगा !

उपधि दो प्रकार की होती है—औघिक उपधि और औपग्रहिक उपधि । जिसके बिना काम चल ही नही सकता अर्थात् जिस वस्तु की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, वह औघिक उपधि है और जो वस्तु किसी विशेष कारण से लेनी पडती है और कारण मिटने के बाद त्याग दी जाती है, वह औपग्रहिक उपधि कहलाती है । यह बात गृहस्थो की उपधि के लिए भी लागू पडती है और साधुओ की उपधि के लिए भी । साधु जघन्य बारह, मध्यम चौदह और उत्कृष्ट पच्चीस उपधि-उपकरण रख सकता है । इससे अधिक नही रख सकता । यहा निर्ग्रन्थधर्म का ही वर्णन किया जा रहा है अतएव यह मर्यादा निर्ग्रन्थ साधु के लिए बतलाई गई है । यहाँ गृहस्थधर्म का वर्णन नही किया गया है परन्तु इस कथन के आधार पर गृहस्थो को भी विचार करना चाहिए और जितनी उपधि कम हो सके उतनी का त्याग करना चाहिए।

तुम श्रावक लोग जो सामायिक करते हो सो उपधि के त्याग का अभ्यास करने के लिए ही है । अगर आज तुम उपधि का त्याग करने मे समर्थ नही हो तो उपधिरूप उपाधि मे रहते हुए भी अभिमान मत करो । बल्कि उपधि के प्रति ममत्व कम करके परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोडो । ऐसा करने से एक दिन उपधि का त्याग करने मे सामर्थ्यवान् हो सकोगे। यह दुःख की बात है कि तुम लोग संसार-सबन्धी कार्यों मे बहुत समय व्यतीत कर देते हो, परन्तु परमात्मा को पसन्द आने योग्य कार्यों मे समय नही लगाते। अगर तुम चाहो तो व्यावहारिक कार्यों के साथ परमात्मा का नाम स्मरण करके तथा परमात्मा को पसन्द आने वाले सत्कार्य करके आत्मकल्याण कर सकते हो । ऐसा होने पर

भी आत्मकल्याण न करना तुम्हारी कितनी वडी भूल है ? पनिहारी पानी भरते समय अपनी सखियो से बातें भी करती जाती है और घडा गिर न जाय, इस बात का ध्यान भी रखती है । जैसे पनिहारी का चित्त घडे की ओर बराबर लगा रहता है, उसी प्रकार दूसरे काम करते हुए भी तुम अपने चित्त को परमात्मा मे पिरोदो तो कितना अच्छा हो ? परमात्मा में चित्त एकाग्र करने से आत्मा का हित भी होता है और चित्त स्वच्छ भी रहता है । मन ही बध और मोक्ष का कारण है, अतएव मन जितना पवित्र रहेगा, उतना ही कल्याण होगा । मन को स्वच्छ या पवित्र रखने का सब से अच्छा साधन परमात्मा का नाम-स्मरण करना है। तुम्हारे शरीर को राजा कदाचित् बन्धन मे डाल सकता है परन्तु मन को राजा तो क्या, कोई महान् शक्तिशाली व्यक्ति भी बन्धन मे नही बाँध सकता । मन तो स्वतन्त्र ही है । अतएव जेल मे भी अगर मन से परमात्मा का स्मरण किया जाये तो जेल भी कल्याण का धाम बन सकता है !

श्रीकृष्ण का जन्म कारागार में ही हुआ था। वसुदेव और देवकी जब कारागार मे बन्द थे तब कृष्ण का जन्म हुआ । फिर भी वे क्या जेल मे दुःख मानते थे ? अगर उन्होने कारागर को कष्टागार माना होता तो क्या वे श्री-कृष्ण का आनन्द लूट सकते थे ?

एक पुस्तक मे मैंने पढा है कि देवकी जैसी सहनशील स्त्री दूसरी नही हुई। देवकी में स्त्री उचित अन्यान्य सद्गुण तो थे ही, परन्तु पति के वचन की रक्षा के लिए अपनी

संतान को सौंप देना और फिर समता रखना उसका बड़ा भारी गुण था। संतान सभी को प्रिय होती है। पशु पक्षी भी अपनी संतान पर प्रेम रखते हैं तो फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है ? विशेषत स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा भी संतान के प्रति अधिक स्नेह पाया जाता है। परन्तु देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा के लिए ही अपनी प्राणप्रिय संतानो को मार डालने के लिए सौंप दिया ! देवकी जब पुत्र को जन्म देती तो वसुदेव उससे कहते—'मैं अत्यन्त पापी हू। मैंने जन्म होते ही संतान सौंप देने का वचन दे दिया है। मगर तुम तो स्वय स्वतन्त्र हो जो उचित समझो वह कर सकती हो।' इस प्रकार वसुदेव ऐसे अवसर पर काँप उठते थे। देवकी के ऊपर ऐसे मौके पर दो उत्तरदायित्व आ पडते थे। एक तो पतिव्रत धर्म की रक्षा करने के लिए पति के वचन का पालन करना और दूसरे उस संतान की रक्षा करना जिसे उसने अभी जन्म दिया है। इन दोनो उत्तरदायित्व परस्पर विरोधी थे और दोनो मे से किसी एक का ही निर्वाह हो सकता था। देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा को ही अधिक महत्व दिया। देवकी मन मे यह विचार करती—मेरे पति काम, क्रोध, लोभ आदि के वश होकर कोई अनुचित काम करते होते तो मैं उस काम का विरोध करती और पति को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती। परन्तु मेरे पति तो धर्म का पालन कर रहे हैं और धर्म की रक्षा के लिए अपनी संतान का भी उत्सर्ग कर रहे है। ऐसी स्थिति में उनके कार्य को मैं कैसे अनुचित कहू ? मैं उनके कार्य मे कैसे बाधा डालूं ? इस प्रकार विचार करके देवकी बालक का

जन्म होते ही वसुदेव को सौंप देती और कहती—यह बालक तो तुम्हारा ही है। मैं तो इसे पालन करने वाली दासी हूं। इसलिए तुम्हे जो उचित प्रतीत हो वही करो। वसुदेव भी क्षत्रिय और वीर पुरुष थे। वह भी अपने वचन का पालन करने के लिए दृढप्रतिज्ञ थे।

आज तुम लोगो ने कायरता के कपडे पहन लिए हैं और इसी कारण तुम धार्मिक कार्यों मे भी कायरता दिखलाते हो और जो वचन देते हो उसका बराबर पालन नही करते। मगर दिये हुए वचन का प्राणों का उत्सर्ग करके भी अवश्य पालन करना चाहिए। कहा भी है:—

सत मत छोड़ो शूरमा, सत छोड़े पत जाय।
सत की बांधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय॥

दृढप्रतिज्ञ मनुष्य कदापि वचनभग नही करता। वचन भग करने से प्रतीति—विश्वास कम हो जाता है। अतएव वचन का पालन करके प्रत्येक का विश्वास-सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

विवाह के समय तुमने अपनी—पत्नी को और तुम्हारी पत्नी ने तुमको क्या वचन दिया था? तुमने आपस मे कैसी प्रतिज्ञा ली थी? इस बात का जरा विचार करो। पत्नी ने उस समय पतिव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा ली थी और पति ने पत्नीव्रत के पालन की। तुम विवाह के समय ऐसी प्रतिज्ञा तो लेते हो पर उसका बराबर पालन करते हो? पत्नीव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा लेने वाला पति अगर परस्त्री का सेवन करता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होता है या नही? ज्ञाती के सामने ग्रहण की हुई

प्रतिज्ञा को पति या पत्नी भंग करे तो कितना अनुचित है ? अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है ।

वसुदेव अपनी प्रतिज्ञा के पालन मे दृढ रहे । वे यह विचारते थे कि सिर पर कितना ही सकट क्यो न आ पडे, धर्मपालन में तो दृढ हो रहना चाहिए धर्मपालन मे दृढ़ रहने वाले लोगो की सेवा करने के लिए देव भी लालायित रहते हैं । कहा भी है -

देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो ।

अर्थात्—धर्म मे दृढ रहने वाले धर्मात्माओ को देव भी नमस्कार करते हैं । इस कथन के अनुसार देवकी की सतान मारी नही गई । हरिणगमेषी देव ने उसकी सतान नाग गाथापति के घर पहुचा दी और नाग गाथापति की मृत सतान लाकर वसुदेव को सौंप दी । इस प्रकार सत्य पर दृढ रहने के कारण वसुदेव को किसी प्रकार की हानि नही हुई ।

भाइयो ! तुम भी सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखो । सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखने वालो की रक्षा हुई है, होती है और होगी । अगर तुम्हारे अन्त करण मे धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न नही होती तो यहाँ आना भी निरर्थक है । अतएव निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा रखो । तुम और हम निर्ग्रन्थप्रवचन से बन्धे हुए हैं । आपके और मेरे बीच सम्बन्ध जोडने वाला निर्ग्रन्थप्रवचन ही है । अतएव उस पर श्रद्धा रखकर सत्य का पालन करने वाले और देवकी जैसी पतिव्रता के घर ही श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषो का जन्म होता है । ऐसे महापुरुष जन्म लेकर क्या करते हैं, इस विषय मे गीता मे कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात्–जब धर्म का अपमान होता है और अधर्म का साम्राज्य फैलता है, तब महापुरुष का जन्म होता है। वह महापुरुष धर्म की रक्षा करता है। मनुस्मृति मे कहा है–'धर्मो रक्षति रक्षित' अर्थात् जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है, धर्म उस व्यक्ति की रक्षा करता है। अत. धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखकर उसका पालन करो और परमात्मा का स्मरण करने मे मन को तल्लीन कर दो। इसी मे स्व-पर का कल्याण है।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न से कि उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपधि रखने में लाभ नही वरन् उपधि का त्याग करने में ही लाभ है। इसलिए शास्त्र में भी कहा गया है:—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।
मायामज्जवभावेणं लोहं सतोसम्रो जिणे ।

अर्थात्— उपशम–क्षमा द्वारा क्रोध का नाश करो, मृदुता से मान को जीतो, आर्जव से माया को जीतो और सतोप मे लोभ को जीतो।

क्रोध आदि को आत्मा का शत्रु माना जाये तो ही उन्हे जीता या नष्ट किया जा सकता है। क्रोध तो साक्षात् शत्रु है ही, अहकार भी आत्मा का शत्रु ही है। अतएव क्षमा के द्वारा क्रोध को और नम्रता के द्वारा अहकार को जीत लेना चाहिए। जव आम के पेड मे फल लगते है तो वह नम जाता है, मगर एरण्ड नही नमता। अव विचार

करो कि तुम आम जैसे बनना चाहते हो या एरण्ड सरीखे बनना चाहते हो ? आम सरीखा बनने के लिए तुम्हे नम्रता सीखना चाहिए । वास्तव मे ससार में वही पुरुष यशस्वी बनता है, जिसमे अहकार नहीं होता और नम्रता होती है। जिसमे अहकार भरा है वह नष्टप्राय हो जाता है। अहकारी व्यक्ति का अहकार ही उसके नाश का कारण बन जाता है।

रावण का नाश अहकार के कारण ही हुआ था । वह अच्छी तरह जानता था कि सीता का हरण करके मैंने अच्छा काम नहीं किया । मगर उसे अभिमान था कि मैं लका का स्वामी हू, अब उसे वापिस कैसे लौटाऊँ ! मदोदरी ने भी रावण को बहुत समझाया था—

तासु नारि निज सचिव बुलाई,
पहुँचावहु जो चहहु भलाई ।

अर्थात्—अगर तुम अपना और राज्य का भला चाहते हो तो आज ही अपने मन्त्री को बुलाकर सीता को वापस भेज दो । मन्दोदरी ने इस प्रकार रावण को समझाया । रावण भी यह समझ गया था कि सीता को वापस न करने से हानि ही होगी, मगर उसमे अहकार था । वह सोचता था कि मैं जिस सीता को ले आया हूं उसे वापस सौप देना मेरी कायरता कहलाएगी । लोग मुझे कायर कहेगे । इसी अहकार के कारण वह राम के पास सीता न भेज सका । इस अहंकार का नतीजा यह हुआ कि रावण का नाश हो गया ।

रावण तो अपने बल और वैभव आदि के कारण अहकार करता था, परन्तु तुम किस बिरते पर अहकार कर

रहे हो ? अहकार विनाश का मूल कारण है, ऐसा समझ कर अहकार का त्याग करो और नम्रता धारण करो ।

आम को कोई पत्थर मारे या लकडी मारे, वह तो सब को मीठे फल देता है। आम किसी पर क्रोध नही करता और न ऐसा अभिमान ही करता है कि मैं सब को मीठे फल देता हूं ! इसके विपरीत तुम सार-असार का विवेक कर सकने वाली बुद्धि-शक्ति के धनी हो फिर भी साधारण-सी बात मे क्रुद्ध हो जाते हो ! और धन के मद मे चूर होकर व्यर्थ ही अहकार का प्रदर्शन करते हो ! जरा विचार करो, यह कितनी बुरी बात है । क्रोध-अहकार वगैरह आत्मा के विकार हैं । इस विकाररूप उपधि का त्याग करने मे ही लाभ है। भगवान् महावीर ने भी यही बतलाया है कि उपधि का त्याग करने से हानि नही वरन् लाभ ही होता है । उपधि का त्याग करने से आत्मा निःसक्लेश बनता है । आत्मा और परमात्मा मे उपधि के कारण ही अन्तर है । उपधि का सर्वथा विनाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार का अन्तर नही रहेगा ।

पानी तो सरोवर मे भी होता है और एक पात्र में रखा हुआ पानी भी पानी ही है । पानी दोनो जगह है, मगर भिन्न-भिन्न स्थिति मे होने के कारण उसमे भेद है । अगर पात्र का पानी सरोवर के पानी मे मिला दिया जाये तो दोनो मे क्या भेद रह जायेगा ? फिर तो दोनो पानी एकमेक हो जाएँगे। जहा तक पात्र की उपधि थी वही तक भेद था । पात्र की उपधि हटते ही किसी प्रकार का भेद नही रहा ।

इस साधारण से मालूम होने वाले उदाहरण मे भी बहुत सार छिपा है। इस उदाहरण से सगठन के साथ–एकतापूर्वक रहने का उपदेश मिलता है। अगर समाज मे ऊपर के उदाहरण का अनुकरण किया जाये तो बहुत सुधार हो सकता है। अगर कोई मनुष्य किसी दुर्गुण के कारण समाज से वहिष्कृत हुआ हो और फिर वह प्रायश्चित्त लेकर, दुर्गुण का त्याग करके फिर समाज में सम्मिलित होना चाहे तो उसे समाज मे पूर्ववत् स्थान मिलना चाहिए। परन्तु आज समाज की स्थिति अस्तव्यस्त हो गई है और समाजव्यवस्था ठीक तरह नही चल रही है। समाजसेवको को विचार करना चाहिए कि सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए समाज की व्यवस्था ठीक करने की सर्वप्रथम आवश्यकता है। समाज की व्यवस्था बराबर सुधर जाएगी तथा समाज में सब को समान स्थान मिलेगा तो समाज की दशा भी अवश्य सुधर जाएगी।

कहने का आशय यह है कि आत्मा और परमात्मा मे कर्मरूपी उपधि के कारण ही भेद है। जो व्यक्ति कर्म की उपधि का त्याग कर देता है, वह परमात्मामय बन जाता है। इसीलिए परमात्मा के प्रति ऐसी प्रार्थना की गई है कि—

प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो।

एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो,
मिलके दोऊ एक रूप भई तो सुरसरि नाम परो।प्रभुजी.।
एक लोहा पूजा मे राखत एक घर बधिक परो।
पारस तामे भेद ना राखत कचन करत खरो।प्रभुजी।

गटर का पानी गन्दा और खराब होता है और गगा का पानी निर्मल तथा अच्छा होता है । सुना है, काशी नगरी की सब गटरें बहुत गन्दी हैं और उन सब का गन्दा पानी गगा नदी मे जाता है । गगा का पानी पवित्र और गटर का अपवित्र माना जाता है अतएव अगर गगा अपने पानी मे गटर का पानी न आने दे तो क्या तुम गगा को गगा कहोगे ? गटर गन्दी होती है फिर भी गगा उसे अपने मे मिला लेती है और गटर को भी गगा रूप बना लेती है । जो अपनी अपवित्रता दूर करके पवित्र बनना चाहता है, गगा उसे अपने ही समान पवित्र बना लेती है ।

जब गगा भी उपाधि का त्याग करके आये हुए गटर के पानी को अपने साथ मिला कर पवित्र बना देती है तो क्या परम पवित्र परमात्मा उपाधि का त्याग करके आये हुए प्राणियो को पवित्र नही बनाएगा ? परमात्मा तो प्रत्येक प्राणी को—चाहे वह छोटा हो या बडा, उच्च हो या नीच हो - पवित्र बनाता है। उपाधि का त्याग करके आत्मा अगर परमात्मा के शरण मे जाये तो आत्मा परमात्मा बन जाता है । शास्त्रकार भी यही उपदेश देते हैं कि उपाधि का त्याग करो और विपत्ति को भी सम्पत्ति समझ कर आत्मोद्धार करो । आत्मोद्धार करने मे ही कल्याण है। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण करके पर का कल्याण करता है वही व्यक्ति पूजनीय माना जाता है ।

लोग शकर को मानते हैं । पर किस कारण ? इसी कारण कि शकर जगत् का कल्याण करने वाले माने गये हैं। 'शकर' की व्याख्या करते कहा गया है—'श—करोतीति

शकरः ।' अर्थात् जो जगत् के दुख दूर करके जगत्कल्याण करता है, वही शकर है । कहा जाता है कि समुद्र मथन करते-करते अन्य चीजो के साथ हलाहल विष भी निकला था । दूसरी चीजें तो दूसरे लोग ले गये पर हलाहल विष को कौन ले ? इस विष को लेने के लिए कोई तैयार नही था । तब विष्णु ने शकर से कहा—आप देवाधिदेव है, अतएव जगत् की रक्षा के लिए विषपान करके कृतार्थ कीजिए । शकर भोले थे । जिसमे भोलापन होता है वही जगत् की रक्षा के लिए तैयार होता है । राम भी भोले थे, इसी कारण वे राज्य का त्याग करके वन मे गये थे । ऐसे भोले ही परमात्मा के सन्निकट पहुचते है । महादेव भोले थे, अतएव उन्होने विषपान कर लिया ।

महादेव ने तो जगत् की रक्षा के लिए विषपान किया था, परन्तु आज लोग महादेव के नाम पर गाजा-भांग आदि नशीली और विषैली वस्तुओ का उपयोग करते हैं । जब मैंने सयमधर्म स्वीकार नही किया था, वैराग्य अवस्था मे ही था, तब एक बार मुझे पास के गाव मे जाना पडा । मेरे पास एक आदमी था । उसने मुझसे पैसे मागे । मैंने उससे पूछा—पैसे किसलिए चाहिए ? उसने उत्तर दिया-मुझे दारू पीना है और इसीलिए पैसो की आवश्यकता है । मैं विरक्त अवस्था मे था । मैंने उससे कहा—दारू पीने के लिए मैं पैसे नही दे सकता । तब वह कहने लगा—दारू पीने मे हर्ज क्या है ? दारू तो महादेव ने बनाई है ।

इस प्रकार दारू आदि नशीली वस्तुओ का उपयोग करने में महादेव कारण बतलाये जाते हैं । व्यसनी लोग

महादेव को व्यसनपूर्ति का साधन बना लेते हैं, जब कि भक्त लोग उन्हे भक्ति का भगवान् मानते है । वास्तव मे जगत् की रक्षा के अर्थ विषपान करने वाले शकर व्यसनी लोगो के व्यसनपूर्ति के साधन किस प्रकार हो सकते है ? शकर को तो जगत् का कल्याण करने वाले लोग ही प्यारे लगेंगे। महादेव ने विषपान करके विपत्ति को भी सपत्ति के रूप मे ग्रहण किया था और जगत् की रक्षा की थी । शकर बनने का यही मार्ग है । इस मार्ग का अनुसरण करके महापुरुष महत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य जगत्कल्याण के लिए स्वय कष्ट सहन करता है और विपत्ति को भी सम्पत्ति मानता है, वही मनुष्य महादेव या परमात्मा का भक्त है ।

शास्त्र कहता है उपधि या उपाधि का त्याग करने से आत्मा सक्लेशहीन बनता है । शास्त्र की इस बात पर साधुओ को तो ध्यान देना ही चाहिए, मगर श्रावको के लिए भी यह बात समान रूप से लागू पडती है। शास्त्रकारो ने साधुओ के लिए सोने–चांदी की चीजो का त्याग करके केवल काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की आज्ञा दी है । तो फिर काष्ठ के पात्रो पर ममता रखने की या उन्हे गृहस्थो के घर ताले में बन्द रखने की इच्छा कितनी अनुचित है ! अतएव साधुओ के लिए तो उपधि का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार उपधि का त्याग करना आवश्यक है । राम या भगवान् महावीर की प्रशसा उपधि का त्याग करने के कारण ही की जाती है ।

अतएव तुम भी त्याग का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखकर उपधि का त्याग करो और विपत्ति को सम्पत्ति समझो। विपत्ति के बादल चढ आवें तो ऐसी अवस्था मे घबराहट त्याग कर परमात्मा का स्मरण करो। इससे विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप मे परिणत हो जायेगी।

जादूगर धूल मे से रुपया पैदा करके उपस्थित जनता को आश्चर्यचकित कर डालता है। यह हाथ की चालाकी है। अगर धूल से रुपया बन सकता होता तो जादूगर क्यों पैसे की भीख मागता ? वह भीख मांगता है, इसी से स्पष्ट जान पडता है कि यह हाथ की चालाकी है। परन्तु परमात्मा के नामस्मरण के जादू से सचमुच ही विपत्ति, सम्पत्ति बन जाती है। किसी ने कहा है—

ताम्बे से सोना बने, वह रसाण मत भीख।
नर से नारायण बने, वही रसायन सीख॥

आजकल ताम्बे से सोना बनाने वाले अनेक ठग देखे-सुने जाते हैं। इन ठगो के चमत्कार से बहुतेरे पढे-लिखे लोग भी प्रभावित हो जाते हैं। सुना है, एक बडा जागीरदार भी एक ठग के चमत्कार के चक्कर मे फंस गया था। ठग ने जागीरदार से कहा तुम्हारे घर मे जितना सोना हो, वह सब मेरे पास लाओ तो मैं उसका दुगुना बना दूंगा। इस प्रकार प्रलोभन मे फँसाकर ठग जागीरदार को जगल मे ले गया। ठग ने वहा जागीरदार से कहा—अब तुम्हारे पास जो अच्छी से अच्छी घोडी हो, ले आओ। इस सोने के चारो ओर घोडी की प्रदक्षिणा कराना आवश्यक है। जागीरदार ने घोडी मगवाई। ठग घोडी पर सवार

होकर कुछ देर तो उसे घुमाता रहा, फिर मौका देखकर और सोना उठाकर ऐसा भागा कि जागीरदार और उसके आदमी आँखें फाड़कर देखते रह गए।

इस प्रकार ताम्बे से सोना बनाने की ठगविद्या से अनेक लोग ठगे गये हैं। परन्तु आत्मा को परमात्मा बनाने का रसायन इतना उत्तम है कि उसमे विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। यह रसायन अनेक महापुरुषो द्वारा अनुभूत है। इस अनुभूत रसायन के द्वारा ठगे जाने का अणुमात्र भी अंदेशा नही। इस रसायन के सेवन मे आत्मा, परमात्मा अथवा नर, नारायण बन जाता है। ताम्बे से सोना बनाना तो ठगविद्या है। परन्तु आत्मा से परमात्मा प्रकटाना सच्ची सद्‌विद्या है। यही सद्‌विद्या मुक्ति का साधन है। इस साधन द्वारा आत्मा का कल्याण करो। इसी मे मानव-जीवन की सिद्धि है।